स्वदेश-परिचय

भारतीय
संगीत की कहानी



डॉ. भगवतशरण उपाध्याय

मूल्य : ₹ 40/- (चालीस रुपये)

संस्करण : 2011

ISBN : 978-81-7028-411-6
BHARATIYA SANGEET KI KAHANI
by Bhagwatsharan Upadhyaya
Printed at Shakti Offset Press, Delhi

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली–110 006
website : www.rajpalpublishing.com
e-mail : sales@rajpalpublishing.com

क्रम

संगीत की कहानी	5
शास्त्रीय संगीत	9
देशी संगीत	23
भक्ति संगीत	29
लोक गीत	31
वाद्य संगीत	39
नृत्य	48
फिल्मी संगीत	57
संगीत के घराने	62
उपसंहार	71



1. संगीत की कहानी

गाने, बजाने और नृत्य को संगीत कहते हैं। संगीत नाम, इन तीनों के एक साथ व्यवहार से पड़ा है। गाना, बजाना और नाचना प्रायः इतने पुराने हैं जितना पुराना आदमी है। सम्भव है, बजाने और बाजे की कला आदमी ने कुछ बाद में खोजी-सीखी हो, पर गाने और नाचने का आरम्भ तो न केवल हज़ारों बल्कि लाखों वर्ष पहले उसने कर लिया होगा, इसमें सन्देह नहीं।

आदमी के विकास पर विचार और अध्ययन करने वाले विद्वानों और चिन्तकों का तो विश्वास है कि मनुष्य ने बोलना सीखने से भी पहले नाचने का अभ्यास कर लिया था। स्पष्ट है कि नृत्य या नाचने में कण्ठ और बोलने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इससे बोलना या गाना सीखने या विकसित करने में जितना समय लगा होगा उसकी आवश्यकता नृत्य के विकास में नहीं पड़ी होगी। आनन्द के क्षणों में आदमी

स्वाभाविक ही थिरक पड़ा होगा और धीरे-धीरे यह आनन्द-प्राप्ति का स्रोत बन गया होगा।

गाने का सम्बन्ध कण्ठ और स्वर से है। गाने के पहले बोल सकना अनिवार्य था। बोलना, अच्छी प्रकार बोलना और तब स्वर को हवा पर लहरा कर एक प्रकार के सुख का अनुभव करना बाद की बात थी। जो भी हो, जिस रूप में हम गायन को आज जानते हैं, स्वयं उसका आरम्भ भी आज से कई हज़ारों साल पहले हो गया होगा। वैदिक काल में तो यह पूर्णतया विकसित हो गया था। सामवेद इसका प्रमाण है।

बाजा बजाना बेशक गाने और नाचने के बाद की चीज़ है और उसका विकास हुआ भी उनके बाद ही, पर उसका आरम्भ भी कुछ हाल का नहीं है—बीसियों हज़ार वर्ष पुरानी बात है। संसार की प्राचीन से प्राचीन खोजी-खोदी हुई सभ्यता में बाजा किसी-न-किसी रूप में मिला है। इससे उसकी प्राचीनता प्रमाणित होती है।

हमारे देश में शिव और पार्वती का सम्बन्ध संगीत के आरम्भ से जोड़ा जाता है। शिव और पार्वती भावमय गान और नृत्य करते हैं। विशेषकर शिव को वाद्य और नृत्य के अधिक समीप माना गया है। पार्वती के वाद्य-नृत्य की बात कहीं नहीं आती। शिव के एक हाथ में डमरू का होना बाजे की प्राचीनता भी सिद्ध करता है। आनन्द के उल्लास में शिव नाच उठते हैं। इस प्रकार की शिव-पार्वती की अनेक मूर्तियाँ हमारे संग्रहालयों में भरी पड़ी हैं। दक्षिण भारत की, नटराज शिव की मूर्तियाँ तो अत्यन्त सुन्दर और



शिव-पार्वती नृत्य

दर्शनीय हैं। उसे ताण्डव नृत्य कहा गया है। नीचे पड़े हुए काल और देश के परे की शिव की जो कल्पना की गई है, काल-पुरुष के तन पर शिव का नाचना उसके अनुकूल ही है। शिव का नृत्य इस प्रकार काल को लाँघ जाता है।

केवल आनन्द से गाने, नाच उठने और बजाने की प्रथा चाहे जितनी पुरानी हो पर उनका कला के रूप में विकास इतना पुराना नहीं,



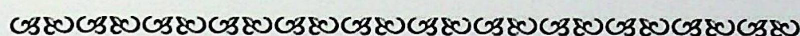
शिव-तांडव

केवल कुछ हज़ार वर्षों का ही है। आनन्द और उल्लास की बहती हुई धारा को कला की ऊँचाई या स्तर तक पहुँचने में समय लगता है, बड़ी साधना की आवश्यकता होती है। दिन-रात के निरन्तर अभ्यास से कला सधती और सीमाओं में बँधती है। तभी उसका सही विस्तार और विकास भी हो पाता है, वरना भला लहराते और थिरकते पैरों को कोई क्या बाँध पाता!

पर इनको सीमा और परिधि में बाँध देना ही कला है। जब हम एक राग-स्वर को बार-बार एक ही रूप में एक ही ताल-विस्तार में गाते हैं, तब उस राग या स्वर की संज्ञा 'कला' होती है। एकाएक गा उठना मानव की प्रवृत्ति है। सभ्य मानव उसी को, अभ्यास से कला के रूप में विकसित कर लेता है। यही बात नृत्य के सम्बन्ध में भी सही है। जब प्रसन्न वन-मानव अपने अभ्यास और साधना में विभोर अपने पैरों में गति भर लाता है, थिरक उठता है, तब वह नृत्य का आरम्भ करता है। पर नृत्य को अपने अभ्यास और साधना से कला की संज्ञा सभ्य मानव ही देता है। बहती हुई धारा को सीमाओं में बाँधकर उसे बार-बार इच्छानुसार एक ही रूप में उतार लेना ही कला है।

इस दृष्टि से हम आगे गायन, वादन और नर्तन—गाना, बजाना और नाचना—पर कला के रूप में विचार करेंगे। ये तीनों एक साथ भी साधे जाते हैं, स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग भी। हम यहाँ उन पर अलग-अलग ही विचार करेंगे, और चूँकि गाना और बजाना एक-दूसरे से अधिक निकट हैं, अधिक लोकप्रिय भी हैं, अतः हम पहले उन्हीं की चर्चा करेंगे।

2. शास्त्रीय संगीत



भारतीय संगीत या गायन के वैसे तो अनेक भेद हैं पर यहाँ हम प्रधानतः दो-तीन की ही चर्चा करेंगे। वास्तव में ये भेद दो ही प्रकार के हैं–मार्ग और देशी। मार्ग शास्त्रीय गायन को कहते हैं, देशी साधारणतः लोकगीतों को। इनके अतिरिक्त अमरीकी या यूरोपीय फ़िल्मों के राग-स्वर–जाज़ और पॉप–का जो असर भारतीय फ़िल्मी गानों पर पड़ा है, उनसे भी इस देश के गायन में एक नई परम्परा का जन्म हुआ है। वह अच्छा या बुरा है, शुद्ध संगीत के लिए साधक या घातक है, उसकी बात तो हम इस काल यहाँ नहीं करते, पर इतना अवश्य है कि फ़िल्मी गानों का प्रचलन भी इस देश में काफ़ी चल पड़ा है और अनेक लोगों को वह मार्ग या शास्त्रीय गानों से अधिक प्रिय और मधुर भी लगता है। इस पर हम अन्त में विचार करेंगे। शास्त्रीय गायन ध्वनि-प्रधान है। इसको जहाँ शास्त्रीय संगीत-ध्वनि विषयक साधना के अभ्यस्त कान ही समझ सकते हैं, अनभ्यस्त कान भी शब्दों का अर्थ जानने मात्र से देशी गानों या लोकगीत का सुख ले सकते हैं। हम पहले शास्त्रीय या मार्ग गायन का उल्लेख करेंगे।

मार्ग या शास्त्रीय संगीत को ही 'क्लासिकल म्यूज़िक' या संगीत भी कहते हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यह ध्वनि-प्रधान होता है, शब्द-प्रधान नहीं। इसमें महत्त्व ध्वनि का होता है, उसके चढ़ाव-उतार का, शब्द और अर्थ का नहीं। इससे अनेक लोग स्वाभाविक ही ऊब भी जाते हैं पर इस ऊबने का कारण उस संगीतज्ञ की कमज़ोरी नहीं, लोगों में जानकारी की कमी है। जिस कला का दसों साल रोज़मर्रा घण्टों गायक अभ्यास

करता है, स्वर साधता है, वह अब संगीत का एक प्रकार का व्याकरण बन गया है और उसका व्याकरण या प्रतीक समझे बिना उसका रसास्वादन करना निस्सन्देह कठिन है। पर इससे शास्त्रीय संगीत का मान नहीं घटता।

संगीत का मूल आधार सरगम है, जिसके सात स्वर होते हैं : षड्ज, रिषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत् तथा निषाद्। इन्हें संक्षेप में सा, रे, ग, म, प, ध, नी या सप्तक के नाम से जाना जाता है। ये सप्तक 22 श्रुतियों में बँटे होते हैं।

शास्त्रीय गायक पूछ सकता है कि हम ध्वनि द्वारा ध्वनि से भिन्न शब्द और उसके अर्थ को पेश क्यों करें? क्यों हम ध्वनि को ही न लहराएँ, शुद्ध ध्वनि को? आधुनिक चित्रकार भी तो यही पूछता है। ब्रश द्वारा रंग और रेखा से चित्रफलक पर वह कुछ लिखता है, जो कभी-कभी आकृतियों का रूप भी ले लेता है; पर आकृतियाँ बनाना उसका इष्ट क्यों हो? वह रंग और रेखा के माध्यम से इनसे भिन्न सुन्दर मुँह आदि को क्यों प्रदर्शित करे? स्वयं रंग और रेखा ही उसकी अभिव्यंजना के इष्ट क्यों न हो जाएँ? यही बात शास्त्रीय संगीत के साथ भी है। वह ध्वनि से परे किसी वस्तु का–प्रेम, विरह आदि का, यद्यपि आनन्द, करुण राग उसमें हैं–परिचायक क्यों हो? इसको समझने के लिये एक उदाहरण सहायक हो सकता है।

सुबह-शाम हम पक्षियों का कलरव सुनते हैं। उससे हमारे कानों को सुख मिलता है। हम कलरव को सराहने लगते हैं, कोयल की कूक को, पपीहे की टेर को, भौंरों के कूजन को हम अपनी मधुर और मार्मिक भावनाओं से बाँधते हैं, उन्हें अपने भीतर की आवाज़ की गूँज मानते हैं। पर कोई सहसा रुककर पक्षियों के कलरव या जल-प्रवाह के कल-कल का अर्थ तो नहीं पूछने लगता! ऐसा तो नहीं कि कोई कहने लग जाए कि इस कलरव या कलकल का हमें अर्थ समझा दो तो हम इसकी मिठास समझें। उनकी मिठास तो आवाज़ के कानों पर पड़ते ही हमारे दिमाग़ पर हावी हो जाती है। वैसे ही चितेरा और शास्त्रीय गायक भी

कहते हैं—हमारे रंग और रेखा को आँखों से देखो और उनमें ही रस लो, उनसे परे कुछ दूसरा नहीं है, हमने दूसरा कुछ उनके द्वारा कहना ही नहीं चाहा है। हमारी ध्वनि को नाद से परे कुछ न समझो; स्वयं ध्वनि की समझ में असाधारण अनुभूति का सुख है, उसे लूटो। हमारी ध्वनि में ध्वनि से परे कुछ मत खोजो; उससे परे की कोई चीज़ उससे भिन्न हमने दी ही नहीं है, क्यों दें हम उसे?

इस प्रकार के तर्क में अर्थ है। साधारणतः भी यह समझना चाहिए कि इस कला की आराधना में इतनी निष्ठा, लगन और तत्परता से नित्य घण्टों और वर्षों, जीवन-जीवन भर जब कलाकार लगाता है, तब उसमें कहीं उसे रस मिलता है। वह सामान्य नहीं, सधे दिमाग़ की अनुभूति की बात है। इस शास्त्रीय या मार्गीय संगीत-शैली की इस देश में हज़ारों साल से साधना होती आई है। सामवेद की बात आरम्भ में ही आई है। यह वैदिक पद्धति तो केवल आर्यों की शैली है। पर दक्षिण का द्राविड़ राग-विधान तो उससे परे का ही रहा होगा, शायद उससे भी पुराना। आज जो संगीत दक्षिण में प्रचलित है, वह भी वैसे उत्तर भारतीय ही है, शास्त्रीय ही, यद्यपि उसमें दक्षिण का अपना व्यापक योग भी है; फिर भी प्राचीन—कम से कम दो हज़ार साल प्राचीन—तमिल साहित्य में भी दक्षिण के स्वतन्त्र गायन के संकेत मिलते हैं। यहाँ उत्तर और दक्षिण के शास्त्रीय संगीत में जो साधारण भेद मिलते हैं, उनका संक्षिप्त उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

साधारण तौर पर उत्तर भारत की संगीत-शैली को 'हिन्दुस्तानी'—क्लासिकल—और दक्षिण की शैली को 'कर्नाटक' या कर्नाटकी कहते हैं। कर्नाटक हमारे देश का एक जन-प्रदेश भी है—जहाँ इस शैली की विशेष साधना हुई होगी और जहाँ से इसका विस्तार हुआ होगा। कर्नाटकी का विस्तार प्रायः समूचे दक्षिण भारत में है, पर हिन्दुस्तानी का न केवल उत्तर भारत बल्कि अनेक अंशों में दक्षिण में भी है। इससे कुछ लोग हिन्दुस्तानी क्लासिकल संगीत को ही भारतीय क्लासिकल संगीत

का पर्याय मानते हैं और दोनों का एक ही अर्थ में प्रयोग करते हैं। वैसे भारत के मार्ग या शास्त्रीय संगीत की हिन्दुस्तानी या कर्नाटक ये दो शैलियाँ शास्त्रीय संगीत के दो प्रधान भेद हैं।

मार्ग या क्लासिकल संगीत किसे कहते हैं? इसका आरम्भ वैदिक काल में ही हो गया था और अपने हज़ारों वर्षों की प्रगति में यह संगीत-शैली अपनी अनोखी स्वर-साधना द्वारा एक अनोखी शैली बनती चली गई। इसका विकास विशेष रीति से विशेष राग और भाव-सम्पदा से हुआ। इसकी अपनी रीति हुई, अपने स्वर, लय, ताल, राग हुए और यह कठिन ध्वनि-प्रयोग की साधना से मुखरित हुआ। इसके अपने नियम बने और अपने ही व्याकरण के आधार पर यह गाया और समझा जाने लगा। इसके नियमों आदि के कितने ही ग्रन्थ बन गए जिनके अनुकूल चलने से इसका नाम शास्त्रीय संगीत पड़ा। जिन शास्त्र-ग्रंथों से इसकी काया का सृजन हुआ उनमें से कुछ, जो आज भी उपलब्ध हैं, के नाम हैं—नाट्य-शास्त्र, नारद-शिक्षा, संगीत-रत्नाकर, राग-तरंगिणी, संगीत-दर्पण, संगीत-पारिजात, नग़मात-ए-आसफ़ी, संगीत राग-कल्पद्रुम, और संगीत-पद्धति।

संगीत या गायन भी और कलाओं की ही तरह प्रयोग-प्रधान है।



संगीत-साधना में लीन मुसलमान और हिन्दू गायक

इससे यह न समझना चाहिए कि इन ग्रन्थों के आधार पर ही यह 'क्लासिकल' या मार्ग-संगीत बन गया। प्रयोग पहले होता है, शास्त्र या सिद्धान्त पीछे बनता है। प्रयुक्त कला के अध्ययन से ही उसके नियम-उपनियम बनते हैं। इससे ग्रन्थों से उसका उदय नहीं, उससे ग्रन्थों का उदय समझना चाहिए। शास्त्रीय संगीत की साधना जो सदियों हुई है इससे परम्परा उसका प्राण बन गई है और वह बड़े महत्त्व की है। उसने धीरे-धीरे विज्ञान का रूप धारण कर लिया। उसका उदाहरण हम बग़ैर गाये केवल लिखकर नहीं दे सकते। यहाँ संकेत के लिए बस इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि ध्वनि को प्रधान मानकर रागों-सुरों आदि के विशेष विधान से यह शास्त्रीय संगीत गाया जाता है। यह साधारण जनता का संगीत नहीं है, कलाविदों का है या उनका जो इसे इसके नियमों के अनुसार समझकर इसका रस ले सकते हैं।

इस सम्बन्ध में बड़े महत्त्व की बात यह भी है, जो और कलाओं से कहीं अधिक संगीत से, विशेषकर शास्त्रीय संगीत से सम्बन्ध रखती है, कि वह हिन्दू-मुसलमान दोनों की कला है। हिन्दू गायन या मुस्लिम गायन जैसा कोई संगीत यहाँ नहीं है; संगीत केवल भारतीय, शास्त्रीय, मार्ग है जिसे हिन्दू और मुसलमान दोनों ने सदियों के तप और साधना से सँवारा है। दोनों ने चित्रकला में मुगल-कलम की तरह तथा





ग्वालियर और बनारस के गायक

पठान-शिल्प की तरह समान रूप से प्रचलित और विकसित किया है। देवता की अर्चना जिस तरह लोग चित्त की शुद्धि और शरीर के संस्कार के लिए करते हैं, उसी प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनों ने मिलकर संगीत की रक्षा और प्रचार-प्रसार में योगदान किया। शास्त्रीय संगीत के अनेक 'घराने' बन गए हैं जहाँ संगीत की आराधना और साधना होती रही है। इस प्रकार के साधक घराने उत्तर और दक्षिण दोनों में हैं। उत्तर में ग्वालियर, लखनऊ, बनारस आदि के घराने काफ़ी प्रसिद्ध हैं।



तानसेन

अब क्लासिकल या शास्त्रीय संगीत की काया समझिए। वह काया रागों और रागिनियों से बनी है। हर राग में स्वरों की श्रुतियाँ होती हैं, सात शुद्ध और पाँच विकृत, कुल बारह प्रत्येक। राग में चार प्रधान स्वर होते हैं–वादी, सम्वादी, विवादी और अनुवादी। इनके अतिरिक्त छः स्वर और हैं जो राग को समृद्ध करते हैं– ग्रह, अंश, न्यास, अपन्यास, सन्यास और विन्यास। पहले तीन ग्रामों–खड़ज (षड्ज), मध्यम और गान्धार–की गणना भी बाईस श्रुतियों में होती थी। इनकी अपनी-अपनी सात-सात 'मूर्च्छनाएँ' (चढ़ाव-उतार) भी थीं।

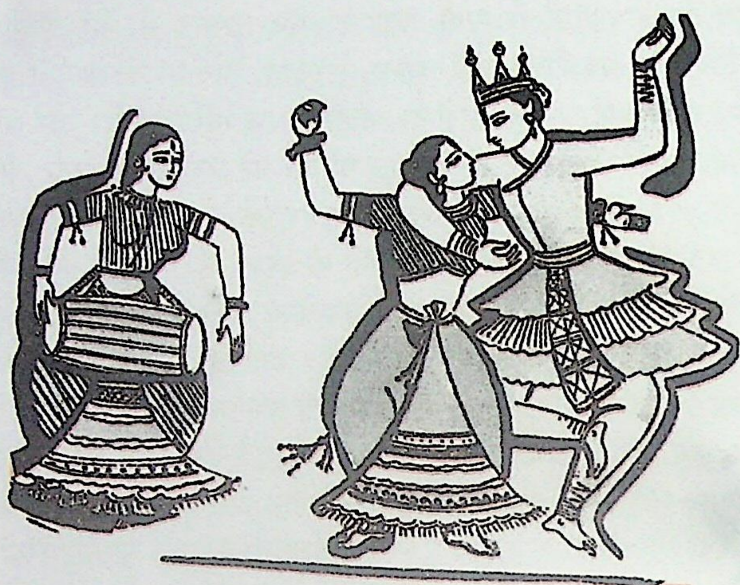
प्राचीन परम्परा के अनुसार राग छः हैं–भैरवीं, श्री, मालकौंस, दीपक, मेघ और हिन्दोल। इनमें से भैरवी, श्री और मालकौंस सुबह, शाम या तीसरे पहर गाए जाते हैं। बाकी तीन, तीन ऋतुओं के राग हैं;

जैसे दीपक गर्मियों में गाया जाता है, मेघ बरसात में और हिन्दोल सर्दियों में। अब दीपक नहीं चलता, सम्भवतः तानसेन के बाद ही वह समाप्त हो गया था। इन रागों के अतिरिक्त 36 रागिनियाँ हैं। और जब राग और रागिनियाँ हुईं तो एक पूरे परिवार की कल्पना भी जगी और रागों, राग-पत्नियों, राग-पुत्रों और राग-पुत्रवधुओं का एक समूचा कुटुम्ब ही उठ खड़ा हुआ। इन राग-रागिनियों के चित्र तक भारत में बने, जो रागमालाओं के नाम से राजस्थानी चित्र-कला में प्रसिद्ध हैं। संगीत में अब ये प्राचीन राग-रागिनियाँ नहीं चलतीं। रागों के दो दल हैं—पूर्व और उत्तर। दोनों के बीच के सन्धि-प्रकाश राग कहलाते हैं। ये तीसरे प्रहर या शाम को दिन और रात की सन्धि के समय गाए जाते हैं। विशेष अवसर और काल, ऋतु आदि के विशेष राग इसलिए होते हैं क्योंकि आदमी और प्रकृति के स्वभाव में पर्याप्त समता होती है। ये राग-रागिनियाँ समय के अनुकूल होती हैं।

रागों को बनाने की प्रक्रिया में थाट का भी महत्त्व होता है। थाट से अर्थ सुरों को मिलाने या एकत्रित करने से है। आमतौर पर एक थाट में 7 स्वर क्रम से लिए जाते हैं। थाट द्वारा विभिन्न तरीकों से राग का निर्माण किया जाता है। कभी-कभी पूर्ण थाट लेकर एक स्वर को या तो दुहराया जाता है या फिर उस पर रुका जाता है। इस स्वर को वादी अथवा राग का मुख्य स्वर कहा जाता है।

स्वरों के परिवर्तन के आधार पर ही एक थाट से करीब 483 राग बनते हैं, उदाहरण के लिए सम्पूर्ण औड़व राग, संपूर्ण षाडव राग, औड़व-षाडव राग, औड़व-औड़व राग आदि।

थाट में सप्तक के सातों स्वर होते हैं, जबकि राग में पाँच, छः या सभी सात स्वर हो सकते हैं। हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में 10 थाट प्रचलित हैं—यमन या कल्याण, बिलावल, खमाज, भैरव, पूर्वी, मारवा, काफी, आवरी, भैरवी तथा तोड़ी। उत्तरी संगीत पद्धति के अलावा दक्षिणी संगीत पद्धति के साधक भी थाट को अपनाते हैं।



विविध नृत्य

राग और थाट के अलावा ताल भी भारतीय संगीत का एक आवश्यक तत्व है। प्राचीन समय में 22 तालों की पहचान की गयी थी। उस समय से अब तक अन्य अनेक ताल भी सामने आये हैं। ताल समय क्रम की निश्चित गति को प्रकट करता है। ताल द्वारा ही किसी गीत के शब्दों में प्राण का संचार होता है। ताल संगीत को अनुशासित करता है। साथ ही, संगीत में चमत्कार उत्पन्न कर श्रोताओं को भाव-विभोर कर देता है। तालों की उत्पत्ति संगीत के छन्दों के आधार पर हुई मानी जाती है।

संगीत के क्षेत्र में लय का भी महत्वपूर्ण स्थान है। लय का मतलब है–लीन होना। लय के तीन रूप होते हैं–द्रुत, मध्य तथा विलम्बित। वस्तुतः एक क्रिया तथा दूसरी क्रिया के बीच का समय अंतराल ही पहली क्रिया का विस्तार है। इसे ही लय के रूप में जाना जाता है। यह विस्तार कम या अधिक होने से लय भी तेज़ या मंद हो

जाता है। विस्तार बहुत अधिक होने पर लय 'विलम्बित', कम होने पर 'द्रुत' तथा सामान्य होने पर मध्य होता है।

प्रायः सभी हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गीत ब्रजभाषा में ही रचे गए हैं। दो-तीन सदियों से लगातार उस पर ब्रजभाषा का यह प्रभाव बना हुआ है। आज भी वही प्रबल है। कुछ ब्रज-रागों का नीचे वर्णन किया जा रहा है :

ध्रुपद : पिछली तीन-चार सदियों से ध्रुपद लोकप्रिय रहा है। अकबर के समय का सबसे बड़ा ध्रुपद-गायक तानसेन था। तानसेन के सदृश गायक भारत में दूसरा नहीं हुआ। वृन्दावन के हरिदास स्वामी उसके गुरु थे। ध्रुपद गाने वाले दूसरे प्रसिद्ध आचार्य नायक गोपाल, नायक बैजू (बैजू बावरा), चिन्तामणि मिश्र आदि थे।

धीरे-धीरे ख़याल ने ध्रुपद की जगह ले ली। आजकल ध्रुपद गाने वाले नहीं के बराबर हैं। ध्रुपद के चार भाग होते हैं—स्थायी, अन्तरा, संचारी और अभोग। आजकल के ध्रुपद में संचारी और अभोग का प्रायः अभाव ही होता है। ध्रुपद की चार मानी हुई शैलियाँ, कन्धार, नोहार, दगुर और गोबाहरे हैं। पर ये अब बहुत ही कम गाई जाती हैं। ध्रुपद गाने के लिए भारी मर्दानी आवाज़ चाहिए। वीर, शृंगार और शान्त इसके रस होते हैं। धमार का उद्देश्य माहौल की गंभीरता को समाप्त करना है। इसके लिए शृंगार रस के गीतों का उपयोग कर माहौल हल्का-फुल्का और रंगीन बनाया जाता है।

धमार गायकों में रामपुर घराने के उस्ताद वज़ीर खाँ एवं अहमद अली खाँ, जयपुर घराने के बहराम खाँ एवं हैदर बख्श तथा आगरा घराने के विलायत हुसैन खाँ व फैयाज़ खाँ ने काफ़ी प्रसिद्धि प्राप्त की है। अधिकतर ताल इसके चौताला, सुल्फ़ोक, झम्पा, तीव्र, ब्रह्मा, रुद्र आदि हैं।

होरी और धमार : होरी और धमार ध्रुपद से ही मिलते-जुलते हैं राग। ताल इस प्रकार की रचनाओं का धमार होता है और ज़ोर दुगुन,



होली पर संगीत और नृत्य

चौगुन, गमक आदि पर होता है। अधिकतर इनका सम्बन्ध होली के त्यौहार से होता है, जब ये गाये जाते हैं। इन रचनाओं में कृष्ण और राधा का प्रेम वर्णित होता है। अधिकतर ये रचनाएँ भी अब संगीत से उठती जा रही हैं।

सद्रा : सद्रा हाल का ही स्वरूप है। इसका सम्बन्ध झपताल से है। मुरादाबाद के नज़ीर ख़ाँ इसके प्रसिद्ध गाने वालों में से थे, पर शायद लखनऊ के दूल्हे ख़ाँ से बड़ा सद्रा गाने वाला नहीं हुआ।

ख़याल : हिन्दू-मुस्लिम का सम्मिलित योग ख़याल को मिला। दोनों संस्कृतियों की यह मिश्रित उपज है। मुसलमानों के इस देश में आने से उनके संगीत का यहाँ के संगीत पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसी प्रभाव का एक परिणाम यह ख़याल है। यहाँ आने पर अनेक मुसलमान–पठान, तुर्क, मुग़ल–हिन्दी भाषा सीख कर उसी में कविताएँ और गीत रचने लगे। अमीर खुसरो, जायसी, कुतबन, मन्झन, रहीम,

शेख़, आलम आदि अनेक हिन्दी के कवि हो गए हैं, जो मुसलमान थे। अमीर खुसरो तो भारतीय संगीत का महापण्डित और अनेक बाजों का निर्माता हो गया है। उसके अतिरिक्त हुसेन शाह शरक़ी और मोहम्मद शाह रंगीले ने भी रागों की दुनिया में बड़ा यश कमाया। दोनों बादशाह थे, एक जौनपुर का और दूसरा दिल्ली का।

प्राचीन ध्रुपद का उत्तराधिकारी यही ख़याल था। जैसे उर्दू शायरी फ़ौरी आनन्द देने वाली है वैसे ही ख़याल भी तत्काल सुख देने वाला है, ध्रुपद की तरह उसका आनन्द परोक्ष नहीं होता। ख़याल का शाब्दिक अर्थ है कल्पना। ख़याल के दो भाग होते हैं–स्थायी और अंतरा। सुल्तान हुसेन शाह शरक़ी के समय ख़याल को विशेष मर्यादा मिली। मोहम्मद शाह रंगीले के दरबार के दो प्रसिद्ध गायकों–अदारंग और सदारंग–ने बहुत से ख़याल रचे जो आज भी गाए जाते हैं। ख़यालियों में प्रसिद्ध हद्दू ख़ाँ, हस्सू ख़ाँ और पीरबख्श हो गए हैं। इनमें अन्तिम तो उस फ़न का भारी उस्ताद था।

इधर के ख़याल गायकों में कुमार गंधर्व का नाम प्रमुख है।

ख़याल गायन के क्षेत्र में कुछ घरानों ने महत्वपूर्ण योगदान किया है। उन्होंने ख़याल गायन में कुछ अनूठे प्रयोग भी किए। ग्वालियर घराने में ख़याल का विकास ध्रुपद से हुआ। इसलिए इस घराने के ख़याल गायन में ध्रुपद की सभी विशेषताएँ देखने को मिलती हैं। नत्थन ख़ाँ और पीर बख्श इस घराने के प्रमुख खयाल गायक हुए हैं। आगरा घराने के प्रसिद्ध खयाल गायक हाजी सुज़ान खान और फैय्याज़ ख़ान रहे हैं। किराना घराने के ब्दुिल वहीद ख़ान तथा ब्दुिल करीम ख़ान ने भी ख़याल को समृद्ध करने में अपना योगदान दिया। इसके अलावा पटियाला घराने के गायकों ने भी ख़याल गायन किया है।

ख़याल की एक बड़ी लोकप्रिय शैली कव्वाल है। कव्वाल अमीर खुसरो द्वारा विकसित बताया जाता है। खूब चल भी निकला यह। ख़याल की मन्द और तीव्र दो शैलियाँ हैं। इसके ताल अधिकतर धीमा,

एकताल, झूमरा, अया, चौताल आदि हैं।



वादक

टप्पा : टप्पा ध्रुपद और ख़याल दोनों से भिन्न है। वैसे यह ख़याल से निम्न-स्तर का माना जाता है, यद्यपि इसमें भी ख़याल की ही तरह स्थायी और अन्तरा का योग होता है। ताल प्रायः वही होते हैं पर इसमें तानों का इतना सुन्दर संयोग होता है कि मन मोहित हो जाता है। टप्पा के गाने अधिकतर काफ़ी, झिंझोटी, पीलू, बरवा, मन्द, भैरवी, खमाज आदि रागों में गाए जाते हैं। शृंगार उसका रस है।

टप्पा संगीत में वह असाधारण उदाहरण है जो लोक-शैली से दरबारी हो गया है। पहले इसे पंजाब के ऊँटवान गाया करते थे। इसी कारण इसके गीत भी अधिकतर पंजाबी हैं। इसकी लोक-परम्परा ने इसमें अद्भुत ताज़गी भर दी है। इसे लोक-शैली से दरबारी बनाने का श्रेय शोरी मियाँ को है। अब इसका चलन भी उठता जा रहा है और इसके गाने वाले इक्के-दुक्के ही रह गए हैं।

टप्पा गायन में घरानों ने योगदान नहीं किया है।

गाने की एक महत्त्व की शैली तराना है। तराना में शब्दों का महत्त्व बिल्कुल नहीं है। स्वर की संभाल के लिये बस न, त, रे, दानी, ओदानी आदि शब्दों का ही उसमें प्रयोग होता है। इसके गाने वाले का ताल और उसकी पेचीदगियों पर पूरा अधिकार होना चाहिए। इसमें पखावज की भाषा और फ़ारसी के शे'रों का प्रयोग भी होने लगा है। प्रायः सभी ख़यालिए इसे गा लेते हैं। आजकल तीव्र तराने बहुत पसन्द किए जाते हैं। किसी भी ताल में वे बंध जाते हैं, इस प्रकार की रचनाओं

में तीव्र का प्रयोग कुछ ऐसा अनिवार्य भी नहीं है।

कर्नाटक संगीत–दक्षिण भारत में प्रचलित शास्त्रीय संगीत की शैली कर्नाटक शैली कहलाती है। हिन्दुस्तानी की तरह यह भी काफ़ी प्राचीन शैली है। संगम काल के ग्रंथों में इस संगीत पद्धति तथा इसके व्याकरण का विस्तृत विवरण मिलता है। दिलचस्प बात यह है कि संगम ग्रन्थों में संगीत के लयात्मक पक्ष पर विशेष जोर दिया गया है। साथ ही, उनमें वाद्य एवं ध्वनियों के मेल के आधार पर तीस से भी ज्यादा ताल वाद्यों का उल्लेख किया गया है। यही कारण है कि कर्नाटक संगीत में ताल वाद्यों की अधिकता देखने को मिलती है।

कर्नाटक संगीत अधिक सरल माना जाता है। इस संगीत की रचनाएँ वर्णम् आधारित होती हैं। कोई भी रचना इस प्रकार की जाती है, जिससे कि राग की गतिविधि, आरोह-अवरोह तथा उसकी विशेषता प्रकट हो सके।

कर्नाटक संगीत का नियमन मेलकर्ता द्वारा होता है, जिसमें 72 राग होते हैं। इसका आरम्भ सामान्यतः पल्लवी से होता है। बाद में पूरक के रूप में अनुपल्लवी का प्रयोग किया जाता है। आखिर में मुक्तीय स्वर निकलते हैं। इसका एक अच्छा उदाहरण कीर्तन है, जिसके तीन भाग होते हैं–पल्लवी, अनुपल्लवी एवं चरण।

कर्नाटक संगीत की सरलता इस बात से ही साबित हो जाती है कि यहाँ राग में ध्वनि गुण को घटाने-बढ़ाने की छूट होती है। इसके अलावा इसमें समय सिद्धांत के कठोरता से पालन पर भी जोर नहीं दिया जाता। हालाँकि इसमें ताल का समय स्पष्ट होता है, जैसे–विलम्बित से दूना मध्यम तथा मध्य से दूना-द्रुत। कर्नाटक संगीत को लय या ताल प्रधान माना जाता है।

कर्नाटक संगीत मुख्यतः निबद्ध रूप से गाया जाता है, इसलिए मृदंगम् पर इसके ताल का उपयोग संगीत का सौन्दर्य बढ़ाने के लिए किया जाता है। इससे ठेका बंद होने पर भी गायन को कोई नुकसान

नहीं पहुँचता। इस संगीत में सभी गीतों की लय मध्य लय में होती है।

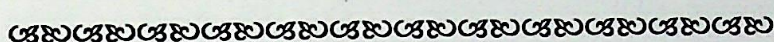
मध्य काल में पुरन्दरदास ने कर्नाटक संगीत को नया स्वरूप प्रदान किया। उन्होंने गीतम शैली में संगीत का विकास किया। पुरन्दरदास की परम्परा को आगे बढ़ाने में मुख्य रूप से थ्यागराज, श्यामशास्त्री व मुथुस्वामी दीक्षिंतर का नाम लिया जाता है। इन्हें कर्नाटक संगीत के त्रिरत्न के नाम से जाना जाता है।

थ्यागराज की रचनाएँ उस समय के परिवेश के साथ-साथ नयनारों की विचारधारा से भी प्रभावित लगती हैं। श्यामशास्त्री को कर्नाटक संगीत में अनेक मौलिक परिवर्तन लाने का श्रेय जाता है। इनकी रचनाएँ संगीतज्ञों के लिए दिशा-निर्देश का काम करती हैं। मुथुस्वामी दीक्षिंतर ने हिन्दुस्तानी संगीत के कुछ रागों को भी कर्नाटक शैली में शामिल कराया, ताकि यह शैली और व्यापक हो सके।

कर्नाटक संगीत में योगदान करने वाले अन्य महत्वपूर्ण संगीतकार हैं—महाराजापुरम् संथानम्, उत्तुकाडु वेंकट सुब्बा अय्यर, गोविंद स्वामी पिल्लै, जी.एन. बाला सुब्रमण्यम आदि। कर्नाटक संगीत में एम.एस. सुब्बुलक्ष्मी के योगदान को देखते हुए उन्हें 1998 में देश के सर्वोच्च सम्मान 'भारत रत्न' से सम्मानित किया गया।

भारतीय शास्त्रीय संगीत की परम्परा बड़ी प्राचीन तो है ही, ध्वनि की वैज्ञानिक साधना भी उसमें असाधारण है। ध्वनि वस्तुतः महत्त्वपूर्ण है, इसलिए ध्वनि को संगीत की आत्मा कहा गया है। ध्वनि की प्रधानता के कारण इस प्रकार का संगीत देश में इतना लोकप्रिय नहीं हो सका। लोकप्रिय गीतों की शैलियाँ दूसरी हैं। आगे हम उन्हीं का उल्लेख करेंगे।

3. देशी संगीत



देशी संगीत नगरों और गाँवों में बहुत लोकप्रिय है। देशी गाने सदा से शास्त्रीय गीतों के साथ-साथ ही गाए जाते हैं। इनके भी दो भाग किए जा सकते हैं। एक तो वे जिन्हें सधे राग-तालों के ही आधार पर गाया जाता है और दूसरे वे जिन्हें आज हम लोकगीत कहने लगे हैं। इनमें से पहले, शास्त्रीय और लोकगीतों के प्रायः बीच के हैं। इनमें प्रधान ठुमरी, ग़ज़ल, दादरा, कव्वाली, कीर्तन और भजन हैं।

ठुमरी अधिकतर अनुभवी गायिकाएं गाती हैं। इसमें बड़ा रस होता है और इसकी रचना बड़ी आकर्षक होती है। देशी गानों में ध्वनि की प्रधानता इतनी नहीं होती जितनी शब्द की होती है। मतलब यह कि इनके शब्दों का अर्थ स्पष्ट होने लगता है और ध्वनि के साथ-साथ गीत का भाव भी मर्म को स्पर्श करने लगता है। रागों के विचार से ठुमरी में ख़याल से काफ़ी शिथिलता और आसानी है पर उसका सीखना कुछ ऐसा आसान नहीं। अनेक अच्छे ख़यालिये इसमें भूल कर जाते हैं।

कठिन तानों और रागों के पेंच ठुमरी में सरल कर दिए जाते हैं। तकनीक से अधिक महत्त्व इसमें कल्पना को दिया जाता है। इसके अनेक उस्ताद शास्त्रीय ढंग से कभी शिक्षित नहीं हुए थे। इसमें आवश्यकता मधुर, लचीली आवाज़ की होती है। पर ठुमरी का प्राण 'बोल' है, जिसकी संभाल सबसे नहीं हो पाती।

ठुमरी का जन्म और विकास उत्तर प्रदेश में हुआ। लखनऊ और बनारस में यह फली-फूली। वहीं से इसका दूर-दूर तक प्रचार-प्रसार हुआ। लखनऊ-शैली के निर्माता सादिक़ अली ख़ाँ थे और सबसे बड़े

गायक थे मौजुद्दीन खाँ। मोजुद्दीन ख़ाँ के गुरु ग्वालियर घराने के भैया साहब गनपतराव थे। बनारसी ठुमरी पर लोकभाषा का काफ़ी असर पड़ा है। कजरी, चैता आदि लोक-शैलियों का भी उस पर ख़ासा प्रभाव पड़ा है। एक पंजाबी किस्म की ठुमरी भी कुछ ज़माने से उत्तर प्रदेश में लोकप्रिय हुई है। इस पर भी पहाड़ी, माहिया आदि लोकगीतों का ख़ासा असर है। ठुमरी बड़ी लोकप्रिय है, इससे उसका भविष्य उज्ज्वल है। ख़याल चाहे मर जाए पर ठुमरी नहीं मरने की।

ग़ज़ल : ग़ज़ल फ़ारसी की देन है। साहित्यिक शैली के रूप में यह असाधारण है। उन्नीसवीं सदी की उर्दू में इसका बड़ा बोलबाला रहा और उस सदी के उत्तरार्द्ध में गायकों ने भी इसे विशेष चाव से अपना लिया। इसे अपनाने में क़व्वालों और गायिकाओं ने विशेष तत्परता दिखाई। अब इसे सभी प्रकार के गायक–फ़िल्म-स्टार से क्लासिकल उस्ताद तक–गाते हैं।

ग़ज़ल, भैरवी, पीलू, भीमपलासी, देस, खमाज आदि देशी और लोकप्रिय रागों में ही गाई जा सकती है, यद्यपि वह बागेश्री (वागेश्वरी), मालकौंस, शंकर और दरबारी रागों में भी अक्सर गाई गई है। ग़ज़ल में तानों के लिए जगह नहीं। गायिकाओं ने ग़ज़ल गाने में बड़ी महारत हासिल की है। उनके बराबर ग़ज़ल गाने वाले इस देश में नहीं हुए। मल्का, ज़ोहरा और गौहर की गाई ग़ज़लों की गूँज आज भी हमारे कानों में है। कव्वालों ने भी, ग़ज़ल की शैली को साधा है पर गायिकाओं के कण्ठ की मिठास उनमें कहाँ?

ग़ज़ल के सम्बन्ध में यह जानना ज़रूरी है कि आरम्भ में इसका विकास 'इश्क' अथवा आशिकी-माशूकी को लेकर हुआ। मुहब्बत का इज़हार और महबूबा की खूबसूरती का वर्णन ही ग़ज़ल का लक्ष्य था।

ग़ज़ल का प्रचार रेडियो और सिनेमा से खूब हुआ। इन साधनों से यह इतनी लोकप्रिय हो गई है कि फ़िल्म-स्टूडियो और साधारण मजलिसों-महफ़िलों से लेकर गुसलख़ानों तक में यह गाई जाती है।

जवान लड़के-लड़कियाँ सदा इसे गुनगुनाते रहते हैं। अक्सर रात के सूने में फ़िल्मी ग़ज़ल सूनेपन को चीरती सुनाई पड़ जाती है। रेडियो पर लगातार ग़ज़ल के रिकार्डों की फ़रमाइशें आती रहती हैं। फ़िल्म-संगीत ने इसमें अनेक परिवर्तन भी किए हैं। अक्सर अमरीकी 'जॉज़' की ध्वनि इसके कलेवर से लिपटी होती है। ग़ज़ल का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। अब 'ग़ज़ल' केवल 'आशिकाना' नहीं रह गई, इसमें अब सब कुछ कहा जा सकता है।

दादरा : दादरा, ठुमरी से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। बनावट में भी दोनों में काफ़ी समानता है। उनकी मर्यादा भी प्रायः समान है, वैसे ठुमरी का स्थान दादरा से कुछ ऊँचा है। दोनों के तालों में अन्तर है। दादरा ठुमरी से तीव्र स्वर में गाया जाता है। दादरा के ताल ठुमरी के तालों से पुराने हैं। उनकी बनावट, विषय, भाषा, भाव आदि एक-से होते हैं। दादरा का जन्म और विकास भी बनारस और लखनऊ के आसपास ही हुआ। बनारस के दादरा की शैली अधिक लोकप्रिय है। मोजुद्दीन ख़ाँ ठुमरी के साथ-साथ दादरा के भी बड़े गवैये थे। इस शैली की माहिर भी गायिकाएं ही हैं। गाँव की औरतों की गाई शैली से लेकर शहरी नफ़ीस दादरा की शैली तक भी वे असाधारण मिठास और खूबी के साथ गाती हैं। दादरा मन्द और तीव्र दोनों लयों में गाया जा सकता है। पर इसका गाना तनिक कठिन है। शास्त्रीय संगीत के आचार्य जैसे और देशी शैलियों पर व्यंग्य करते हैं, इस पर व्यंग्य नहीं कर पाते—कारण, इसकी जड़ें गाँवों की मिट्टी में हैं और ये किसी प्रकार उखाड़ी नहीं जा सकतीं।

क़व्वाली : मूल रूप में क़व्वाली मज़हबी अथवा धार्मिक चीज़ है। इसका विषय अधिकतर धार्मिक ही रहा है। ख़ुदा की ख़ुशामद में क़व्वालियाँ रची गईं, उसकी इबादत में पीरों की दरगाहों और मस्जिदों में यह गाई जाती हैं। ग़ज़ल की ही तरह इसके भी विशेष गायक मुसलमान ही रहे हैं। इसके रचयिता तो वे रहे ही हैं। मुसलमानों की



मज़हबी चीज़ होते हुए भी क़व्वाली सारे उत्तर-पश्चिम प्रदेश में लोकप्रिय है और इसकी लोकप्रियता बराबर बढ़ती ही जा रही है। अजमेर शरीफ़ में हर साल देश के बड़े-बड़े क़व्वाल इकट्ठे होते हैं। उनकी क़व्वाली का असर आए हुए मुसलमान और हिन्दू भक्त दोनों पर देखते ही बनता है। क़व्वाली अधिकतर मज़ारों का गीत है। हारमोनियम और ढोलक की मदद से क़व्वाली गाई जाती है। फिल्मों में भी कव्वाली लोकप्रिय हुई है। जिस तरह ग़ज़ल ने अपना रूप बदला, उसी तरह कव्वाली ने भी; अब यह मात्र मज़हबी नहीं रह गई, आशिकाना भी बन गई है।

कीर्तन और भजन : जो स्थान क़व्वाली का मुसलमानों में है, वही कीर्तन और भजन का हिन्दुओं में है। वस्तुतः उससे भी बढ़कर क्योंकि अनेक हिन्दुओं के लिए तो भजन ही गीत और वेद हैं। कीर्तन और भजन बनते भी बड़े प्राचीन काल से चले आए हैं। इनका विस्तार सारे भारत में है। भाषा बदलती जाती है पर भजन के भाव और उद्देश्य नहीं बदलते। कीर्तन-भजन का सम्बन्ध भक्ति-सम्प्रदाय और आन्दोलन



सूरदास मीराबाई तुलसीदास

से है। इस सम्बन्ध में उत्तर-दक्षिण भारत में कोई भेद नहीं है। अलवार, रामानुज, वल्लभ, कबीर, चैतन्य, मीरा, सूरदास, तुलसीदास सभी के पद और भजन भक्ति-आन्दोलन से बँधे हैं और बड़े मनोयोग से गाए जाते हैं। कबीर, मीरा, सूर, तुलसी और अष्टछाप के कवियों के पद बड़े ही लोकप्रिय हैं।

भजनों में मीरा और सूरदास के भजन संख्या में अधिक और गेय हैं। सूरदास का तो एक लाख पदों का 'सूर-सागर' ही है।

वस्तुतः सूरदास के जीवन के विकास और उनके भजनों की प्रकृति और संख्या पर उनके गुरु, शुद्धाद्वैत तथा पुष्टिमार्ग के संस्थापक श्रीमद्- वल्लभाचार्य का प्रभाव है। सूरदास ने वल्लभाचार्य का शिष्यत्व ग्रहण किया था। वल्लभाचार्य के इष्ट बालकृष्ण थे। श्रीनाथ जी के विग्रह के रूप में वे बाल-कृष्ण की उपासना करते थे। श्रीनाथ जी का मन्दिर गोवर्धन पर्वत पर वल्लभ के शिष्य पूरणमल खत्री ने बनवाया था। सूरदास अपने गुरु के आदेश पर नित्य सुबह, बाल लीला का एक पद बनाते और सायंकाल आरती के समय श्रीनाथ विग्रह के समय इसे गाते थे। गोवर्धन का मन्दिर अब भी है पर श्रीनाथ जी की मूर्ति अब नाथद्वारा में हैं। वल्लभ के सुपुत्र विट्ठलनाथ, औरंगज़ेब के भय से उसे वहाँ ले गए। विट्ठल ने ही अष्टछाप के कवियों को नियुक्त किया।

बाल-लीला के पद रचने से ही सूरदास बाल-लीला के महान गायक बने। मीरा, मेड़ता के राजा राव दूदा की पोती थी। चित्तौड़गढ़ में महाराणा के बड़े पुत्र कुंवर भोजराज के साथ उनका विवाह हुआ। पर वह कृष्ण भक्ति में रम गईं और उसने श्रीकृष्ण भक्ति के अनेक पद लिखे। फिर भी वे संख्या में सूर और तुलसी की बराबरी नहीं कर सकते। नए भजन भी लिखे जा रहे हैं। फिल्मों, टेलीविज़न और रेडियो ने भी इन्हें लोकप्रिय बनाया है।

4. भक्ति संगीत

भारत में प्राचीन काल से ही संगीत और भक्ति का गहरा सम्बन्ध रहा हैं। मन्दिरों-देवालयों में भजन-कीर्तन की परम्परा पहले से ही चलती आई है। दक्षिण भारत के मन्दिरों में तो भक्ति गीतकारों को स्थायी रूप से रखा जाता था। दरअसल हमारे देश में ईश्वर की आराधना का एक माध्यम संगीत को भी माना गया है। यही कारण है कि गीतों व भजनों की रचना भगवान की स्तुति के लिए की गयी।

मध्य काल में मीराबाई तथा सूरदास आदि भक्तों कवियों ने तो अपने आपको ही भगवान कृष्ण को समर्पित कर दिया था। अपनी सुध-बुध खोकर वे सदा भगवान का भजन गाते रहते थे।

समय के साथ-साथ भक्ति संगीत में भी बदलाव आता गया हैं। पहले मन्दिरों-धर्मस्थानों में ही भजन-कीर्तन गाये जाते थे। उस समय गाना महत्वपूर्ण नहीं था, बल्कि महत्वपूर्ण थी भक्ति। लेकिन आधुनिक काल में भक्ति संगीत को नए ज़माने की हवा लग गयी। फिल्मी गीतों की धुन पर भक्ति गीत गढ़े जाने लगे और उन्हें मन्दिरों के अलावा भगवती जागरण, अन्य आयोजनों के अवसर पर तथा दुकानों-घरों में धड़ल्ले से बजाया जा रहा है। ऐसे में मर्यादा और ईश्वर के प्रति सच्ची श्रद्धा का अभाव हर जगह दिखाई देता है।

हालाँकि ऐसा नहीं है कि वर्तमान समय में ईश्वर के प्रति सच्ची श्रद्धा पूरी तरह से खत्म हो गयी है। आज भी संगीत और भगवान एक-दूसरे से उतने ही जुड़े हैं, जितने पहले। आज भी अधिकांश शास्त्रीय गायक अपने गीत भगवान को ही समर्पित करते हैं। वे संगीत

को ईश्वर की भेंट मानते हैं। उनका मानना है कि ईश्वर के प्रति समर्पित संगीत शांत, सुकून और ऊर्जा प्रदान करता है।

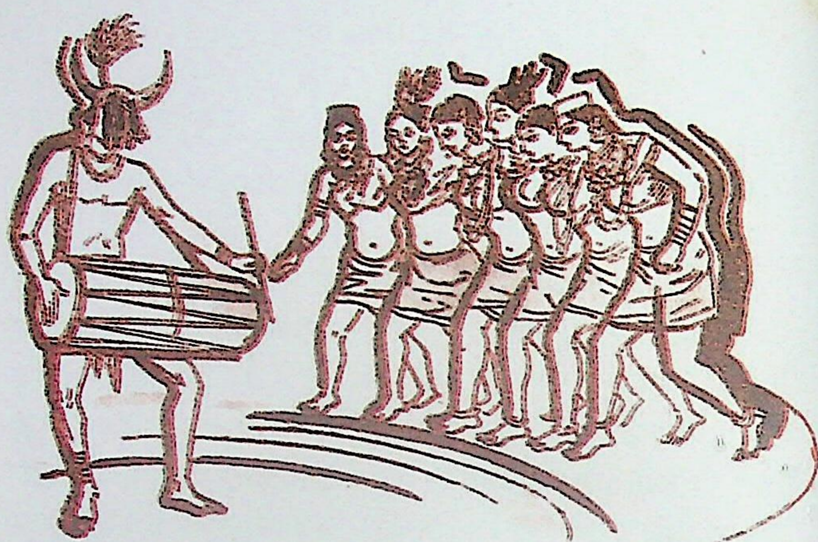
आज लोगों को अपने भक्ति गीतों और भजनों से भाव-विभोर कर देने वाले अनेक लोकप्रिय गायक हैं। इनमें राजन-साजन मिश्र, वडाली़ बंधु आदि के नाम प्रमुख हैं। इसके अलावा जगजीत सिंह, अनूप जलोटा, पंकज उदास, चित्रासिंह आदि ग़ज़ल गायकों ने भी अपनी ग़ज़लों में आराध्य की स्तुति की है। भक्ति गीतों, भजनों, आध्यात्मिक ग्रन्थों पर आधारित संगीतमय रचनाओं के कैसेट्स और एलबम आज हर कहीं मिल जाएँगे। आज वैदिक मन्त्रों-श्लोकों, भक्ति ग्रन्थों आदि पर आधारित संगीतबद्ध गीत बड़ी संख्या में तैयार किए जा रहे हैं। धर्म में लोगों की गहरी आस्था के चलते इस तरह के एलबम एवं कैसेट्स काफ़ी लोकप्रिय हुए हैं।

5. लोक गीत

लोकगीत अपनी लोच, ताज़गी और लोकप्रियता में मार्ग और देशी दोनों प्रकार के संगीत से भिन्न हैं। लोकगीत सीधे जनता के गीत हैं। घर, गाँव और नगर की जनता के गीत हैं ये। इनके लिए साधना की आवश्यकता नहीं होती। त्यौहारों और विशेष अवसरों पर ये गाए जाते हैं। सदा से ये गाए जाते रहे हैं और इनके रचने वाले भी अधिकतर अनपढ़, गाँव के लोग ही हैं। स्त्रियों ने भी इनकी रचना में विशेष भाग लिया है। ये गीत बाजों की मदद के बिना ही या साधारण ढोलक, झाँझ, करताल, बाँसुरी आदि की सहायता से गाए जाते हैं।

मार्ग या देशी के सामने इनको निम्न समझा जाता था। अभी हाल तक इनकी बड़ी उपेक्षा की जाती रही, पर इधर साधारण जनता की और राजनीतिक कारण से जो लोगों की नज़र फिरी है तो साहित्य और कला के क्षेत्र में भी मूलभूत परिवर्तन हुआ है। अनेक लोगों ने विविध बोलियों के लोक-साहित्य और लोकगीतों के संग्रह पर कमर कसी है और इस प्रकार के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। प्रान्तों की विविध सरकारों ने भी लोक-साहित्य के पुनरुद्धार में हाथ बँटाया है और सभी राज्यों में इस सम्बन्ध का एक विभाग चालू कर दिया है या सार्वजनिक अधिवेशन, पुरस्कार आदि द्वारा इसका प्रोत्साहन, प्रचार और वृद्धि शुरू कर दी गई है।

लोकगीतों के कई प्रकार हैं। इनका एक प्रकार तो बड़ा ही ओजस्वी और सजीव है। यह इस देश के आदिवासियों का संगीत है। मध्य प्रदेश, दक्षिण, छोटा नागपुर में गोण्ड-खाण्ड, और ओराँव-मुण्ड,



भील-सन्थाल आदि फैले हुए हैं जिनमें आज भी जीवन, नियमों की जकड़ में बँध न सका और वह निर्द्वन्द्व लहराता है। इनके गीत और नाच अधिकतर साथ-साथ और बड़े-बड़े दलों में गाए और नाचे जाते हैं। बीस-बीस, तीस-तीस आदमियों और औरतों के दल एक साथ या एक दूसरे के जवाब में गाते हैं, दिशाएँ गूँज उठती हैं।

पहाड़ी प्रदेशों के अपने-अपने गीत हैं। उनके अपने-अपने भिन्न रूप होते हुए भी अशास्त्रीय होने के कारण उनमें अपनी एक समान भूमि है। गढ़वाल, कनौर, काँगड़ा आदि के अपने-अपने गीत और उन्हें गाने की अपनी-अपनी विधियाँ हैं। उनका अलग नाम ही पड़ गया है–'पहाड़ी'।

वास्तविक लोकगीत देश के गाँवों और देहात में हैं। इनका सम्बन्ध देहात की जनता–किसानों, अहीरों, धोबियों आदि से है। बड़ी जान होती है इनमें। चैता, कजरी, बारहमासा, सावन आदि मिर्ज़ापुर, बनारस और उत्तर प्रदेश के पूर्वी और बिहार के पश्चिमी ज़िलों में गाए

जाते हैं। बाउल और भटियाली बंगाल के लोकगीत हैं। पंजाब में माहिया आदि भी इसी प्रकार के हैं। हीर-राँझा, सोहनी-महीवाल सम्वन्धी गीत पंजाबी में और ढोला-मारू आदि के गीत राजस्थानी में बड़े चाव से गाए जाते हैं।

इन गीतों के विषय साधारणतः राग-द्वेष, प्रणय, विरह, संयोग, आनन्द, विराग सभी हैं; अनन्त विषय जो नित्य के जीवन में प्रकाश पाते हैं। वास्तव में इन देहाती गीतों के रचयिता कोरी कल्पना को इतना मान न देकर अपने गीतों के विषय रोज़मर्रा के जीवन से लेते हैं जिससे



पंजाब का जन-गायक 'हीर' गाते हुए

वे सीधे मर्म का स्पर्श करते हैं। उनके राग भी साधारणतः पीलू, सारंग, दुर्गा, सावन, सोरठ आदि हैं। कहरवा, बिरहा, धोबिया, आदि देहात में बहुत गाए जाते हैं और बड़ी भीड़ आकर्षित करते हैं।

इनकी भाषा के सम्बन्ध में ऊपर कहा जा चुका है कि ये सभी लोकगीत गाँवों और इलाकों की बोलियों में गाए जाते हैं। क्लासिकल या शास्त्रीय संगीत की भाषा अधिकतर वह नहीं जो गाने और सुनने वालों की है, जो बनावटी है और ताल-सुर की जकड़ में बँध कर तो वह और भी कृत्रिम और अबूझ हो जाती है, पर लोकगीतों की भाषा नित्य की बोली होने के कारण बड़ी आह्लादकर और आनन्ददायक होती है। राग तो इन गीतों के आकर्षक होते ही हैं, इनकी समझी जा सकने वाली भाषा भी इनकी सफलता का कारण है। ''भाषा बहता नीर'' इसीलिए कहा गया है।

भोजपुरी में पिछले अनेक वर्षों से 'बिदेशिया' का खूब प्रचार हुआ है। गानेवालों के अनेक दल इन्हें गाते हैं। उधर के भागों में विशेषकर बिहार में बिदेशिया से बढ़कर दूसरे गाने लोकप्रिय नहीं है। इन गीतों में अधिकतर रसिकों, प्रियों और प्रियाओं की बात रहती है, परदेशी पिया की ; और इनसे करुणा और विरह का जो रस बरसता है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

जंगल की जातियों के अतिरिक्त सभ्य गाँवों के अहीरों आदि के भी दल-गीत होते हैं जो अधिकतर बिरहा आदि में गाए जाते हैं। अहीरों के मर्द एक ओर और स्त्रियाँ दूसरी ओर एक दूसरे के जवाब में दल बाँधकर गाते हैं और दिशाएँ गुँजा देते हैं। पर इधर कुछ काल से इस प्रकार के दलीय गायन का अहीरों में ह्रास हुआ है। नगर-गाँव के उच्च वर्णों की देखा-देखी अहीरों में जो स्त्रियों को परदे में रखने आदि का आन्दोलन चला तो वह इस प्रकार के सजीव गीत-समारोहों को खा बैठा।

एक दूसरे प्रकार के बड़े लोकप्रिय गाने आल्हा के हैं। अधिकतर ये बुन्देलखण्डी में गाए जाते हैं। आरम्भ तो इनका चन्देल राजाओं के

राजकवि जगनिक से माना जाता है जिसने आल्हा-ऊदल की वीरता का अपने महाकाव्य में बखान किया। पर निश्चय ही उसके छन्द को लेकर लोकबोली में उसके विषय को दूसरे देहाती कवियों ने भी समय-समय पर अपने गीतों में उतारा और ये गीत हमारे गाँवों में आज भी बहुत प्रेम से गाए जाते हैं। इनको गाने वाले गाँव-गाँव ढोलक लिए गाते फिरते हैं। इसकी सीमा पर उन गीतों का भी स्थान है जिन्हें नट रस्सियों पर खेल करते हुए गाते हैं। अधिकतर ये गद्य-पद्यात्मक हैं और इनके अपने बोल हैं।

अपने देश में स्त्रियों के गीतों की है अनन्त संख्या। हैं तो ये गीत भी लोकगीत ही, पर अधिकतर इन्हें औरतें ही गाती हैं। इन्हें सिरजती थी अधिकतर वही हैं। वैसे इन्हें रचने वाले या गाने वाले पुरुषों की भी कमी नहीं है पर इन गीतों का सम्बन्ध विशेषतः स्त्रियों से है। इस दृष्टि से भारत इस दिशा में सभी देशों से भिन्न है, क्योंकि संसार के अन्य देशों में स्त्रियों के अपने गीत मर्दों या जनगीतों से भिन्न नहीं हैं, मिले-जुले ही हैं।

त्यौहारों पर नदियों में नहाते समय के, नहाने जाते हुए राह के, विवाह के, मटकोड़, ज्यौनार के, सम्बन्धियों के लिए प्रेम-युक्त गाली के, जन्म आदि सभी अवसरों के अलग-अलग गीत हैं जो स्त्रियाँ गाती हैं। इन अवसरों पर कुछ आज से ही नहीं, बड़े प्राचीनकाल से वह गाती रही हैं। महाकवि कालिदास आदि ने भी अपने ग्रन्थों में उनके गीतों का हवाला दिया है। सोहर, बानी, सेहरा आदि उनके अनन्त गानों में से कुछ हैं। वैसे तो बारहमासे पुरुषों के साथ नारियाँ भी गाती हैं।

एक विशेष बात यह है कि नारियों के गाने साधारणतः अकेले नहीं गाये जाते, दल बाँधकर गाये जाते हैं। अनेक कण्ठ एक साथ फूटते हैं। यद्यपि अक्सर उनमें मेल नहीं होता, फिर भी त्यौहारों और शुभ अवसरों पर वे बहुत ही भले लगते हैं। गाँवों और नगरों में गानेवालियाँ भी होती हैं जो विवाह, जन्म आदि के अवसरों पर गाने के लिए बुला ली जाती हैं। बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में छठ पर्व बड़े धूमधाम से

मनाया जाता है। इसके गीत बड़े मोहक और लोचदार होते हैं। जैसे–

काँच ही बाँस के बहंगिया, बहंगी लचकत जाय।
बात जे पुछले बटोहिया, बहंगी केकटा के जाय।
आन्हर होइब रे बटोहिया, ई बहंगी आदित मल के जाय।।

सभी ऋतुओं में स्त्रियाँ उल्लसित होकर दल बाँधकर गाती हैं पर होली, बरसात की कजरी आदि तो उनकी अपनी चीज़ है जो सुनते ही बनती है। पूरब की बोलियों में अधिकतर मैथिल-कोकिल विद्यापति के गीत गाए जाते हैं। विद्यापति ने शिव को लेकर बहुत-से भजन बनाए हैं। 'नन्चाटी' कहते हैं इन्हें। इनका गान मिथिला में खूब होता है। स्त्री-पुरुष सभी गाते हैं। पर सारे देश के–कश्मीर से कन्या कुमारी-केरल तक और काठियावाड़-गुजरात-राजस्थान से उड़ीसा-आन्ध्र तक–सभी के अपने-अपने विद्यापति हैं।

स्त्रियाँ ढोलक की मदद से गाती हैं। अधिकतर उनके गाने के साथ नाच का भी पुट होता है। गुजरात का एक प्रकार का दलीय



गुजरात का गरबा नृत्य

गायन 'गरबा' है जिसे विशेष विधि से औरतें घेरे में घूम-घूमकर गाती हैं। साथ ही लकड़ियाँ भी बजाती जाती हैं। इसमें नाच-गान साथ-साथ चलते हैं। वस्तुतः यह नाच ही है। सभी प्रान्तों में यह लोकप्रिय हो चला है। इसी प्रकार होली के अवसर पर ब्रज में 'रसिया' चलता है जिसे दल के दल लोग गाते हैं, स्त्रियाँ विशेषकर।

गाँव के गीतों के वास्तव में अनन्त प्रकार हैं। जीवन जहाँ इठला-इठलाकर लहराता है, वहाँ भला आनन्द के स्रोतों की कमी हो सकती है? वहाँ के अनन्त संख्यक गाने उद्दाम ग्रामीण जीवन के ही प्रतीक हैं।

गीतों के कुछ और प्रकार भी हैं। इनमें अधिकतर वे हैं जिन्हें गीत कहते भी हैं। इस प्रकार के गीत अत्यन्त आधुनिक संगीत के अंग हैं जिनका प्रसार फ़िल्मों ने किया है। लोकगीतों को भी अपने रस में ढालकर उन्होंने उनका प्रसार तो किया ही है पर जिन गीतों का हम यहाँ उल्लेख कर रहे हैं, उनका तो जन्म ही फ़िल्म-स्टूडियो में हुआ है। इनको फिल्म-स्टारों, टी.वी. और कुछ अंशों में रेडियो ने भी गाया और बढ़ाया है। यह देशी-विदेशी और अशास्त्रीय-गँवारू गानों के दोगले रूप हैं।

भारतीय आर्केस्ट्रा के योग से ये गीत गाए जाते हैं। इन्हें एक या अनेक लोग मिलकर गाते हैं। अधिकतर एक लड़का और लड़की, विशेषतः प्रेमी और प्रेमिका, अलग-अलग एक दूसरे के जवाब के रूप में या एक साथ मिलकर भी इन्हें गाते हैं। इस प्रकार के गीत वस्तुतः 'पश्चिम' और नए भारत के मिले-जुले प्रयास हैं। हॉलीवुड और मुम्बई की फ़िल्मी दुनिया इनमें आ मिली है। मधुर, तेज या ढीले, कृत्रिम स्वर में ये गीत गाए जाते हैं और यद्यपि ये शास्त्र की दृष्टि से नगण्य हैं तथापि अब काफ़ी लोकप्रिय हो गए हैं। फ़िल्मी जगत पर आज यह इस प्रकार हावी हैं कि अच्छे संगीत का वहाँ गला घुटता जा रहा है।

इनको जाने-माने लोकप्रिय हिन्दी-उर्दू के–विशेषतः उर्दू के–कवि लिखते हैं। अधिकतर वे फ़िल्म-स्टूडियो के नौकर हैं और फ़िल्म के

मालिक 'आर्डर' करके विषय और परिमाण बताकर उनसे ये गीत लिखा लेते हैं। इनके चलते टकसाली तर्ज़ बहुत लोकप्रिय हो गए हैं।

रेडियो ने जब अति शृंगारिक और अश्लील फ़िल्मी रेकार्ड बजाने कुछ दिनों बन्द कर दिए थे, तब इन गीतों के लिए काफ़ी हो-हल्ला मचा था। देखा गया कि इनकी माँग इस मात्रा में और इतनी प्रबल है कि इनका सर्वथा त्याग नहीं किया जा सकता। एक समय वह भी था जब लोग अपने देश के रेडियो स्टेशनों का प्रोग्राम बन्द कर सीलोन रेडियो के प्रोग्राम सुनने लगे थे जो निरन्तर इन फ़िल्मी गीतों के रेकार्ड बजाता रहता था। भारतीय रेडियो ने भी तब हल्के गानों की आवश्यकता पक्के गानों के ऊपर समझी थी और जाने-माने कवियों से गीत लिखवाकर वह उनके रेकार्ड बजाने या कविताओं के गीत-रूप प्रसारित करने लगा था। पर वह प्रयोग सफल न हो सका और फ़िल्मी-रेकार्डों का फिर से आश्रय लेना पड़ा। हाँ, उनके चुनाव में निश्चय अब रुचि को महत्त्व दिया जाता है। रेडियो पर गानों के लिए अनेक एम.एम. बैण्ड शुरू हो गए हैं। इनमें से कुछ सरकारी हैं, जबकि अनेक बैण्ड निजी हाथों में हैं सरकारी बैण्डों पर तो संगीतमय और मर्यादित गाने बजाए जाते हैं। लेकिन निजी बैण्डों पर कोई अंकुश नहीं है, फलतः उन पर उत्तेजक और अश्लील गाने खूब बजते हैं।

दूरदर्शन के आगमन के पश्चात् रेडियो का महत्त्व घट गया। दूरदर्शन वालों ने भी इन गीतों की लोकप्रियता को खूब भुनाया। दूरदर्शन के क्षेत्र में भी निजी चैनलों का तेजी से वर्चस्व स्थापित हुआ है। यहाँ तक कि केवल गीत-संगीत के लिए ही अलग से चैनल खुल गए हैं। इन पर धड़ल्ले से अश्लील व अराजक गान दिखाए और बजाए जाते हैं।

इधर टी. वी. पर पंजाबी लोकगीत नई-नई धुनों पर दिए जा रहे हैं और कुछ अच्छे कलाकार पर्याप्त लोकप्रियता अर्जित कर रहे हैं। पंजाबी का पृथक चैनल भी खुल गया है। इसी तरह मराठी, बंगाली आदि के भी चैनल खुल गए हैं।

6. वाद्य-संगीत


प्राचीन भारतीय वाद्य

वादन : वादन संगीत के तीन अंगों में से एक है। संगीत के समूचे अंग गीत, वाद्य और नृत्य हैं। वाद्य या बाजे का सम्बन्ध गाने और नृत्य दोनों से है। दोनों में ही उसकी आवश्यकता होती है। अतः हम यहाँ गीत और नृत्य दोनों के बीच या साथ ही वाद्य तथा वादन की चर्चा करेंगे।

वाद्य भी गाने और नाचने की ही तरह मनुष्य की प्राचीनतम कला-निधि हैं। अत्यन्त प्राचीन काल में ही कम-से-कम बाँसुरी और नगाड़े का निर्माण हो गया था। विद्वानों की धारणा है कि स्वच्छन्द बहती हुई हवा जंगल में जब बाँसों के सूराख़ों से होकर गुज़रती थी तब एक मधुर कोमल

ध्वनि से वन-प्रान्त गुंजित हो उठता था। स्वच्छन्द फिरता बनवासी मानव उस तरंग से देर तक वंचित न रह सका और उसने उनकी नकल पर बाँस में अपने कोमल स्वर से झट प्राण फूँक दिए और वंशी बज उठी। इसी प्रकार नगाड़ा भी साधारण मिट्टी या काठ पर चढ़े चमड़े से बना और इसे प्राचीन से प्राचीन बाजों में गिना जाता है। आदिम निवासियों में आज भी यह विशेष रूप से लोकप्रिय है। उनके आनन्द और युद्ध का यह प्रबल प्रतीक है। आज उसका संगीत में अनेक प्रकार से उपयोग होने लगा है।

आज देश में इतने बाजे बजाए जा रहे हैं कि इनकी गणना सम्भव नहीं। तारों-बेतारों के बाजे, चमड़े से ढके हाथ या लकड़ी से पीटकर बजाए जाने वाले बाजे, मुँह से फूँककर बजाए जाने वाले और लकड़ी-लोहे आदि के डण्डों को सजाकर लकड़ी से ठोंककर या पात्रों में पानी भरकर बजाए जाने वाले बाजे। ये बाजे अकेले भी बजाए जाते हैं और इकट्ठा आर्केस्ट्रा के रूप में भी। इनकी चर्चा हम इनके अलग-अलग रूपों में करेंगे।

भारतीय बाजे साधारणतः चार भागों में बाँटे जा सकते हैं : तांत, बेतांत, घन और सेखर। तांत तारों वाले बाजे हैं। पीतल या लोहे के तार या रेशमी-सूती डोरे से बाँध कर ये बनते हैं। ये लकड़ी, हाथी-दाँत या मिजराब के सहारे बजाए जाते हैं। तांत के दल में गिने जाने वाले बाजे वीणा, बीन, सरोद, तम्बूरा आदि हैं। वीणा की चर्चा संस्कृत साहित्य में बार-बार हुई है। इसकी ही कोई न कोई किस्म तारों वाले ये बाजे हैं जिनको प्रायः सभी प्राचीन सभ्य जातियों ने बजाया है और जिनका उन्होंने अपनी-अपनी रीति से निर्माण किया है। यूनानियों में भी एक प्रकार की वीणा चला करती थी। प्राचीन भारतीय साहित्य में वीणा के 'तन्त्री' आदि नाम भी मिलते हैं। संगीत और विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती के हाथ में वीणा ही शोभती है, इसीलिए उन्हें वीणावादिनी या वीणाधारिणी भी कहते हैं।

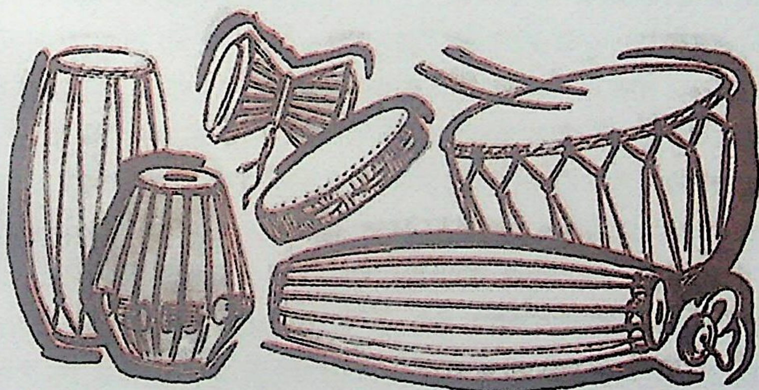


तार वाले बाजे

बेतांत किस्म के बाजे भी तार वाले ही होते हैं, अन्तर उनमें बस इतना होता है कि उनमें तार के नीचे चमड़ा लगा होता है जिसके कारण आवाज में एक अलग ढंग की गूँज पैदा होती है। उन्हें हाथ की उँगलियों से न बजाकर धनुष से बजाते हैं। सारंगी, तौस, दिलरुबा वगैरह इसी वर्ग के हैं। इनका प्रचार भी देश में खूब है।

घन, गम्भीर आवाज़ के भारी बाजे हैं, ढोल के-से। नगाड़ा, पखावज, ढोल, मृदंग, तबला, सब इसी घन की जाति के बाजे हैं।

सेखर बाजों के उस समूह को कहते हैं जो फूँककर बजाये जाते हैं। बाँसुरी, मुरली, अलगोज़ा, नफ़ीरी, शहनाई आदि इस वर्ग में आते हैं।



घन गंभीर आवाज़ वाले बाजे

उँगलियों से बजाए जाने वाले बाजों में एक विशिष्ट बाजा रुद्रबीन है। रुद्रबीन बड़ा प्राचीन बाजा है और उसको बजाना कुछ आसान नहीं है। होता भी वह काफ़ी कीमती है। उसमें सोना, चाँदी, हाथीदाँत आदि जड़े होते हैं। दक्षिण भारत में इसका विशेष चलन है और अनेक लोग इसे वहाँ बजाते हैं। उत्तर भारत में वीणा बजाने वालों की संख्या घटती जा रही है।

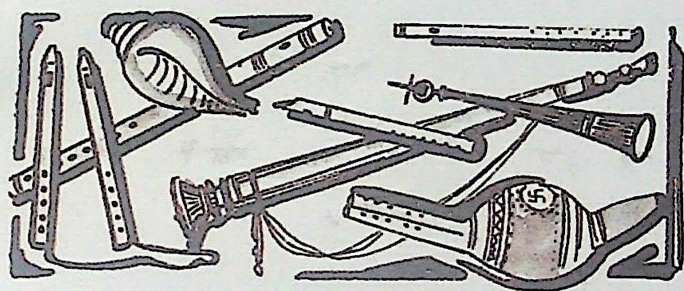
नारद की वीणा चार तारों की होती है। उसका दूसरा नाम तम्बूरा है। सितार तीन तारों का वाद्य होता है। कहते हैं, उसे अमीर ख़ुसरो ने बनाया था। एकतारा एक तार का होता है, छोटा एकतारा जिसे बजाकर साधु- भिखारी भीख माँगा करते हैं। इसी वर्ग का सितार की तरह बड़ा एकतारा तानपूरा होता है।

सारंगी, दिलरुबा, तौस और खमाच भी तार वाले बाजे हैं पर वे हाथ से न बजाए जाकर धनुष से बजाए जाते हैं। सारंगी हाथ-डेढ़ हाथ की होती है। उसका निचला भाग चमड़े से मढ़ा रहता है। उसमें तारों के दो दल होते हैं, एक ऊपर, एक नीचे। ऊपर के तार धनुष से बजाए जाते हैं, नीचे के अंगुलियों से। इसे शायद एक मुसलमान हकीम ने बनाया था। खमाच लकड़ी का बना होता है, ऊपर सितार-सा, नीचे सारंगी-सा। इसके भी निचले भाग पर चमड़ा मढ़ा होता है। तौस मोर की शक्ल का बाजा होता है, बड़ा सुन्दर। दिलरुबा का आकार-प्रकार अधिकतर तौस का-सा ही होता है पर उसमें मोर की शक्ल नहीं होती। साजिन्दा भी इसी वर्ग का बाजा है जिसे सिक्खों के गुरु रामदास ने बनाया था। यह दो तारों का होता है। नीचे खोखला होता है, ऊपर लकड़ी के टुकड़ों पर तार कसे होते हैं।

सरोद और रुबाब भी तारों की श्रेणी के बाजे हैं। सरोद का प्राचीन नाम शायद स्वरोदय है। रुबाब में ग्यारह तार होते हैं; ऊपर सात, नीचे चार। इसे तिकोनी लकड़ी से बजाते हैं। कहते हैं कि इसे सिकन्दर जुलकर नैन ने बनाया था। सरोद और रुबाब का बजाना कुछ

कठिन है। सुरबीन और सितार प्रायः एक ही प्रकार के होते हैं। अन्तर बस इतना होता है कि सुरबीन पर सामने लोहे की चादर चढ़ी होती है और तार उसके रुबाब के-से होते हैं। मुगल शाहज़ादे काले साहब ने इसे बनाया था। रुबाब से ही मिलता-जुलता एक और बाजा होता है जिसे सुर सिंगार कहते हैं। तरब भी तार का ही बाजा है जिसे ज़मीन पर रखकर आधे चाँद की-सी लकड़ी से बजाते हैं।

मुँह से फूँक कर बजाए जाने वाले बाजों में वंशी या बाँसुरी का उल्लेख पहले किया जा चुका है। कृष्ण की बाँसुरी और मुरली तो साहित्य और लोक दोनों में प्रसिद्ध है। यह आज से पाँच हज़ार वर्ष पूर्व ही महाभारत काल में आ गई थी। उसके पूर्व भी यह होगी, तभी कृष्ण ने इसे अपनाया। यह बाँस के छिद्रों वाला सबसे सरल पर सबसे सरस



फूँककर बजाए जाने वाले वाजे

तथा हल्का वाद्य-यन्त्र है। अलगोजा ऊपर कुछ पतला, नीचे कुछ चौड़ा होता है और काली लकड़ी का बनता है। उसमें समान दूरी पर सात सूराख़ होते हैं। कहते हैं कि उसे उम्मा ऐयार ने बनाया था। अलगोजे की शक्ल बन्दूक की नली की-सी होती है। शहनाई भी मुँह से फूँककर ही बजाया जाने वाला वाद्य है। इसे मांगलिक अवसरों खासकर विवाह के अवसर पर बजाया जाता है। बनारस उस्ताद बिस्मिल्ला खां ने शहनाई को एक नयी पहचान दी और जन-जन तक पहुँचा दिया। खाँ

साहब जब शहनाई बजाते हैं तो श्रोता भाव-विभोर हो जाते हैं। शहनाई के क्षेत्र में खां साहब के योगदान को देखते हुए उन्हें भारत रत्न से सम्मानित किया गया। शंख भी मुँह से फूँककर ही बजाया जाता है और बड़ा प्राचीन बाजा है। शंख-ध्वनि विजय की सूचक है। शंख से ही युद्ध आरम्भ और समाप्त किया जाता था। पूजा में भी उसे बजाया जाता था जैसे आज भी बजाया जाता है। शंख वस्तुतः कोई गढ़ा हुआ वाद्य नहीं है। यह एक समुद्री जीव का ऊपर का कवच है। अन्दर से साफ कर इसे बना लिया जाता है। तुरही समूची पीतल की बनती है। वह भी पहले युद्ध में बजती थी पर उसका उपयोग भी शंख की तरह युद्ध और शान्ति के अवसरों पर भी सदा से होता आया है। पहले उसे तूर्य कहते थे। सिंघा भी तुरही की तरह का एक बाजा होता है, जो हिरन के सींग से बनता है। उसी तरह का बाजा भीर बड़ी तेज़ आवाज़ का होता है। बनता वह ताँबे का है। सँपेरे पूँगी बजाते हैं, जिसका दूसरा नाम बीन भी है। वह तुम्बी भी कहलाती है और लौकी या पेठे से बनती है। बड़े मधु स्वर का तारों के समूह का एक बाजा मुर्चंग होता है, जिसे अलग ढंग की आवाज़ से बजाते हैं।

घन प्रकार के बाजे मिट्टी, लकड़ी आदि के खोखले मुँह पर चमड़ा चढ़ा कर बनाए जाते हैं। ध्वनि उनकी मन्द्र-गम्भीर होती है, जैसे मेघ-गर्जन की, रथ की आवाज़ की। नगाड़ा या नक्कारा शायद इस प्रकार के बाजों में सबसे प्राचीन है। उसी का दूसरा नाम सम्भवतः पटह भी है जो महाकाल शिव की पूजा आदि में बजता है। नक्कारा नौबत में बजा करता है। नगाड़ा छोटा-बड़ा दो तरह का होता है। मर्फा और ताशा नगाड़े से ही मिलते-जुलते हैं और विशेषकर देशी ढंग की शादियों में लकड़ियों से बजाए जाते हैं। नगाड़े का राजा-रजवाड़ों या ज़मींदारों में बड़ा सम्मान था। उसकी आवाज़ दूर-दूर तक जाती थी। और इसे शान की वस्तु माना जाता था। गुरु गोविन्दसिंह ने आनन्दपुर में नगाड़ा बजाया तो विलासपुर का पहाड़ी राजा उनका शत्रु बन बैठा। दोनों शाम

नगाड़े पर चोट होती तो आवाज़ उसके महल के अन्दर पहुँचती जिसे वह अपना अपमान मानता।

खँजड़ी हाथ से बजाया जाने वाला छोटा-सा नगाड़ा ही समझिए। थाली की शक्ल की, उससे छोटी, चमड़े से मढ़ी होती है। डफरा भी उसी शक्ल का होता है, पर खँजड़ी से कुछ बड़ा। डमरू शिव का बाजा है। बीच में पतला, दोनों ओर चौड़ा, गोल; चमड़े से मढ़ा, रस्सी या ताँत से ढोलक, मृदंग-से खिंचा लकड़ी का बना; दो रस्सियों में बँधी गाँठों की दोनों ओर चमड़े पर चोट से बजता है। बहुत प्राचीन बाजा है यह, भालू-बन्दर नचाने वाले मदारी उसे सदा बजाते हैं।

ढोल, डफ, पखावज, मृदंग, तबला आदि ताल के बाजे हैं। पखावज पीपे के रूप का होता है, लकड़ी का बना हुआ खोखला जिसके दोनों सिरों पर चमड़ा चढ़ा होता है और चमड़ा रस्सियों से खिंचा होता है। ढोल या ढोलक तो आमतौर से घरों में बजाते हैं। ढोलक मृदंग की ही छोटी आकृति समझिए। तबला दो टुकड़ों में बँटा होता है। इसे दोनों हाथों से बजाते हैं, ज़मीन पर रखकर। तबले की ईजाद शायद सुधार ख़ाँ ने की पर उसके एक प्रकार का नाम अमीर खुसरो से भी जुड़ा है। धमस और चाँप तबलों की तरह ही होते हैं, मिट्टी के बने। ये रोशन चौकी में सामने गले से लटकाकर लकड़ी से बजाए जाते हैं। इस प्रकार के बाजों में सबसे कठिन पखावज बजाना है। इन बाजों में से अधिकतर, पखावज और तबले को छोड़कर, शेष लोकगीतों से जुड़े हैं और उनके साथ अक्सर बजाए जाते हैं।



जलतरंग

इनके अतिरिक्त लोह-तरंग, काष्ठ-तरंग, जल-तरंग आदि भी



भारतीय आर्केस्ट्रा

अनेक प्रकार के बाजे हैं जिनसे हमारा मनोरंजन होता है और जो कला के स्तर पर स्वीकार कर लिए गए हैं। लौह-तरंग में लोहे के और काष्ठ-तरंग में खड़े छड़ होते हैं जिन्हें लकड़ी से बजाया जाता है। लकड़ी से ही, दोनों हाथों से जल-तरंग भी बजता है। इसमें कम-बेश पानी भरकर छोटी-बड़ी प्यालियाँ रखी जाती हैं और लकड़ी की सधी चोट से जब वे बज उठती हैं तब उनसे बड़ी मधुर ध्वनि निकलती है।

कुछ बाजे इकट्ठे बजाए जाते हैं। ये भारतीय आर्केस्ट्रा के बाजे हैं। ये साधारणतः दो प्रकार के हैं, शहनाई और रोशन चौकी। ऐसे ही नौबत भी है। रोशन चौकी में चार बजाने वाले होते हैं, नौबत राजद्वारों पर बजा करती थी। शहनाई एकत्र नादों का बहुत ही मधुर आर्केस्ट्रा है। इसमें कभी-कभी मुँह से गाने वाले भी साथ चलते हैं। बनारस के शहनाई बजाने वाले इस फ़न के गहरे उस्ताद हैं।

इस प्रकार आदमी ने स्वयं तो गाया ही, उसने लोहे, लकड़ी, मिट्टी में भी प्राण फूँक दिए। उनसे भी मनचाहा स्वर निकाल कर जीवन को रसमय बनाने का सफल प्रयत्न किया। बाजों के बिना गाना-नाचना

बिल्कुल फीका लगता है। भोजन में जो स्थान नमक का है, वही स्थान संगीत में बाजे का है।

आधुनिक आर्केस्ट्रा

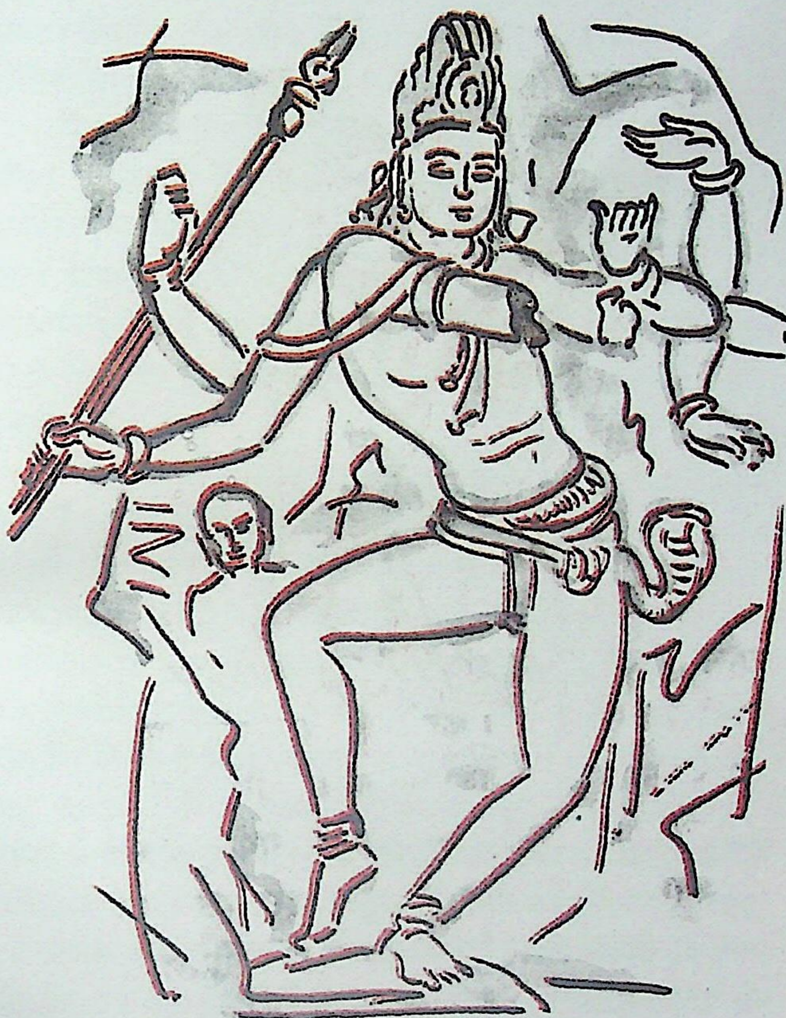
अब तक हमने परम्परागत वाद्यों की चर्चा की। बड़े अच्छे हैं ये अपने रूप में और हमारी संस्कृति के परिचायक और हमारी धरोहर भी है। पर आजकल आधुनिक आर्केस्ट्रा का चलन देहातों तक में चल पड़ा है। उसमें कई नए-पुराने प्रकार के बाजे एक साथ बजते हैं। फिल्मों से इनका लोक जीवन में आगमन हुआ है। फिल्मों में तो एक साथ कई-कई वाद्य बजाने वाले होते हैं और इनका एक कण्डक्टर होता है जो हाथ के उतार-चढ़ाव से इनका दिशा-निर्देश करता है। बिजली से जुड़े अनेक वाद्य यन्त्र पुराने यन्त्रों को अब बहुत पीछे छोड़ चुके हैं।

7. नृत्य

नाचना भी गाने की ही तरह मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। उल्लास और आनन्द के अतिरेक से आदमी नाच उठता है। आनन्द, सभ्य और जंगली दोनों प्रकार के मनुष्यों में होता है। दोनों प्रकार के मानवों में इसी से नाच का महत्त्व है।

नाच तो शायद गान से भी पुराना है। कुछ अजब नहीं जो आदमी बोलने के पहले भी नाचता रहा हो। बोलना तो आदमी ने धीरे-धीरे सीखा, चेष्टाएं-मुद्राएँ तो भाषा से पहले ही बन चुकी थीं और नाचना चेष्टाओं-मुद्राओं के दायरे की ही चीज़ है। कहते हैं कि सबसे पहले शिव ने पार्वती के साथ डमरू बजाकर नाचा और तब जो वायु में तरंग उठी वही घनीभूत ठोस हो गई, उसी से जड़ पदार्थ बना और सृष्टि शुरू हुई। जैसा पहले लिखा गया, इस प्रकार ताण्डव नृत्य में नाचते शिव की अद्भुत वेगवान् ताँबे-पीतल की मूर्तियाँ दक्षिण भारत में अनेक हैं। भारतीय मूर्तिकला में भी नृत्य का बड़ा योग रहा है। मन्दिरों आदि पर बनी नारी-मूर्तियों के दम-ख़म नृत्य के ही हैं। उनमें नाच की अनेक मुद्राएँ भरी गई हैं। उनकी लचक देखते ही बनती है। इसी लचक को शास्त्रीय भाषा में भंग कहते हैं। त्रिभंग की मुद्रा में खड़ी असंख्य मूर्तियाँ खजुराहो के मन्दिरों पर बनी हैं।

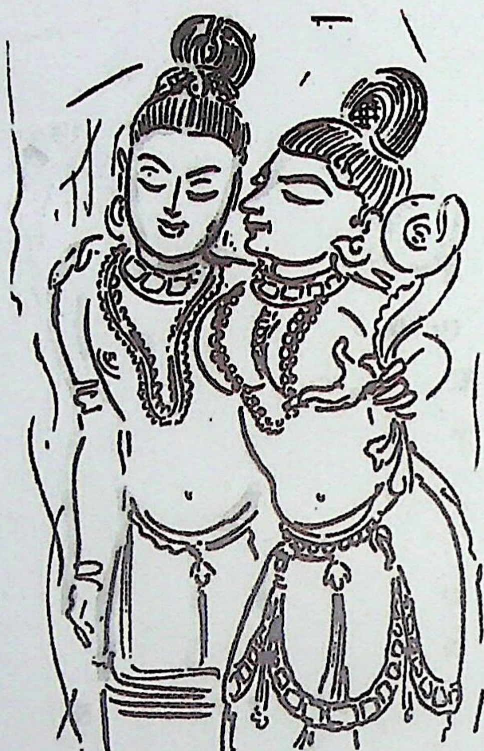
आर्यों के प्राचीन वेदों में भी नृत्य का ज़िक्र हुआ है। लिखा है कि उषा नित्य प्रातः पूर्व के प्रकाश पर नर्तकी की तरह वक्ष खोले अर्द्धनग्न रूप में नाचती हुई आती है। उर्वशी आदि अप्सराएँ भी नाचने का काम करती हैं और उनकी परम्परा बाद में मन्दिरों में नाचने वाली देवदासियों



ताण्डव नृत्य

में सुरक्षित हो जाती है। कालिदास ने उज्जैन के महाकाल शिव के मन्दिर में चँवर लेकर नाचने वाली नारियों का उल्लेख किया है।

वेदों में पुरुषों और स्त्रियों के मिलकर टोली बनाकर नाचने का



त्रिभंग मुद्रा

भी ज़िक्र हुआ है। इस प्रकार के नृत्य एक मेले में हुआ करते थे जिसे 'समन' कहते थे। फिर ऐसा मिला-जुला नाच-गाना पीछे 'समाज' या 'समज्जा' कहलाने लगा, जिसकी बुराइयों से ऊबकर राजा अशोक ने उसे बन्द कर दिया।

टोलियों में मिलकर नाचना सभ्य-असभ्य दोनों प्रकार के मनुष्यों को प्रिय रहा है और है। आज भी संसार के सारे देशों में यह टोली-नाच प्रचलित है। हमारे देश में निश्चय वह मर चुका है और जिन कुछ-एक अहीर आदि जातियों में वह अभी हाल तक चलता रहा है उसका भी नागरिकता की अद्‌भुत व्याख्या ने प्रायः अन्त ही कर डाला है। चीन में

इस प्रकार की प्रथा नहीं थी पर उस देश ने नए सिरे से इसका अब प्रचलन किया है और अनेक अवसरों पर वहाँ हज़ारों नर-नारी एक साथ टोलियाँ बनाकर गाते-नाचते हैं।

हमारे देश में तो इस प्रकार के नृत्य अब बस आदिवासियों के जीवन में रह गए हैं। उराँव, मुण्डा आदि टोलियाँ बनाकर अद्‌भुत वेगवान नृत्य करते हैं। इसी प्रकार का एक नृत्य मनीपुरी नाच भी है। उसने प्रायः शास्त्रीय रूप धारण कर लिया है पर है वह अत्यन्त आकर्षक। ऐसे ही नाच भारत के गाँवों में भी पूरी टोली के तो नहीं पर दो-दो तीन-तीन पुरुषों-स्त्रियों के प्रचलित हैं जो अत्यन्त वेगवान और रसवर्षक हैं।

धोबियों, कहारों, गोण्डों आदि के नाच तो गज़ब की ताज़गी रखते हैं। होली के अवसर पर जोगीड़ा कह-कह कर जो पूरबी इलाकों में नाच नाचा जाता है वह भी कम आकर्षक नहीं होता। उस नाच में लड़के नाचते हैं और भाँड विदूषक बनकर भँडैती करते हैं। पूरब में 'विदेशिया' में भी इसी प्रकार लड़के नाचते हैं। अनेक जगहों पर तो नाचने-गाने वालियों के नाच से इन लड़कों के नाच अधिक चाव से देखे जाते हैं। बिहार में लौंडों (लड़कों) के नाच को वहाँ के मुख्यमन्त्री श्री लालू प्रसाद ने नब्बे के दशक में राज्याश्रय देकर और लोकप्रिय बना दिया। प्रायः रात्रि में आस-पास (विशेषकर आरा के) जिलाधिकारी गाड़ियों में भरकर इन लौंडों को मुख्य मंत्री आवास आते और देर रात तक उनके नृत्य कराते। इसमें राज्य के मन्त्री दर्शक के रूप में भाग लेते और जो शर्म-वश भाग नहीं लेते, उनकी शामत आ जाती। नृत्य के समय खूब वाह! वाह! होती और छोकरे नर्तकों पर 'नोट' बरसाए जाते। यह परम्परा अब भी जारी है।

देशी नाच को लोक-जीवन के प्रति नव जागृति ने भी बहुत महत्त्व दिया। इंडियन पीपुल्स थियेटर (इप्टा) ने इसका पुनरुद्धार किया है। उदयशंकर ने शास्त्रीय और देशी नृत्य की मुद्राओं को एकत्र कर

एक नई अत्यंत आकर्षक वेगवान नृत्य कला का सृजन और वर्धन किया। उदयशंकर, रामगोपाल, रुक्मिणी अरुण्डेल, राधा, रागिनी देवी आदि के प्रयास से भारतीय नृत्य के पुनरुद्धार और नव-निर्माण में बड़ी सहायता मिली। उनके प्रदर्शनों से देश-विदेश में सर्वत्र भारतीय नृत्य कला का सुयश फैला और उसके प्रति विशेषकर अपने देश में नयी चेतना उत्पन्न हुई।

अब हम संक्षेप में शास्त्रीय नृत्य का उल्लेख करेंगे। भारतीय नृत्य भी गायन की ही भाँति प्रधानतः दो प्रकार का है—एक हिन्दुस्तानी या उत्तर भारतीय, दूसरा दक्षिण भारतीय या कथकली और भरतनाट्यम्। दोनों ही प्रकार के नृत्य शास्त्रीय दृष्टि से असाधारण क्षमता वाले हैं और उनकी साधना बड़ी रुचि-सुरुचि से इस देश में होती रही है।

उत्तर भारत में जिस नृत्य-शैली की साधना-आराधना हुई है उसे *कत्थक-नृत्य* कहते हैं। इसे पेशवाज़ पहनकर नाचा जाता है। इसका संरक्षण और विकास विशेषतः मुसलमान दरबारों में हुआ, वैसे है यह इस देश का बहुत प्राचीन नृत्य। इस शैली के नाच में प्रधानतः कृष्ण और गोपियों के, सँपेरे, मोर और पानी-भरने के, घट-पर-घट रखकर चलने के तथा कहरवा आदि नृत्य हैं। अनेक नर्तक ऐसे भी हैं जो बताशों पर नाच लेते हैं और बताशे टूटने नहीं पाते। ऐसे नाचने वालों के अद्‌भुत कोमल पदस्पर्श होने चाहिए।

कत्थक-नृत्य में गान और ताल नाच के साथ-साथ चलते हैं। मर्द, औरत दोनों ही इसमें पेशवाज़ पहनते हैं। इस शैली के नृत्य की रक्षा और प्रसार विशेषकर गाने और नाचनेवालियों ने किया है। उन्होंने अपने पेशे में नृत्य को विशेष स्थान दिया है। अत्यन्त प्राचीन काल से विशेष अवसरों पर वे गृहस्थों के यहाँ पुत्र-जन्म, विवाहादि में जाकर नाचती रही हैं। प्रसिद्ध संस्कृत कवि एवं लेखक बाणभट्ट के 'कादम्बरी' नामक आख्यायन-ग्रन्थ में उनके नाचने का उल्लेख है। 'हर्षचरित' में भी हर्ष के जन्म पर नाचने के लिए नाचने वाली स्त्रियां बुलाई गई थीं।



कत्थक नृत्य

यह दरबारी प्रथा अभी हाल तक जीवित रही है। एक समय तो जब संकीर्ण सुधारवाद के प्रबल आंदोलन ने नाचने-गाने का बायकाट शुरू कर दिया था तब गहरी कुंठा बर्दाश्त करके भी नाचने वाली महिलाओं और उनके उस्तादों ने इस कला को ज़िन्दा रखा, मरने नहीं दिया।

गाने और नाचने वाली स्त्रियों के अतिरिक्त देश के अनेक नृत्याचार्यों के घरानों ने भी नृत्यकला की साधना और उसकी रक्षा की।

लखनऊ, जयपुर और काशी के 'घराने' इस दिशा में बड़े तत्पर रहे हैं। कत्थक की अपनी कमनीयता के कारण अच्छे घरों की लड़कियां भी उसका प्रशिक्षण लेने लगी हैं और इसे नाचना अब गौरव की बात मानी जाती है। बंगाली लड़कियाँ इसमें आगे हैं। अनेक गृहस्थ भी अपनी कन्याओं को कत्थक नृत्य की शिक्षा देते रहे हैं।

दक्षिण भारत की नृत्य-शैलियाँ नितान्त शास्त्रीय या मार्गीय हैं। ये साधारणतः दो हैं–भरतनाट्यम और कथकली। ये दोनों शैलियाँ भारतीय नृत्य और नाट्य की प्राचीन शैलियाँ हैं और इनपर बाहर की कला का प्रभाव नहीं पड़ा है। मुस्लिम-दरबारों की संरक्षा और सहायता से भी ये वंचित रह गई हैं। इनकी साधना और संवर्धन शुद्ध दक्षिण में ही हुए हैं। वहाँ भी इन शैलियों के अपने-अपने घराने हैं जो अपनी नृत्यसाधना के लिए विख्यात रहे हैं। इधर पश्चिमी देशों में भी भारतीय नृत्य का प्रचार हुआ है और अनेक विदेशी भरतनाट्यम सीखने दक्षिण भारत आते हैं। इनमें अमेरिकन नर्तकी रागिनी देवी का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

भरतनाट्यम का सम्बन्ध सम्भवतः नाट्य शास्त्र के रचयिता



भरतनाट्यम

भरत मुनि से है। भरत द्वारा निर्मित शैली में यह नृत्य किया जाता है। इसमें नाचने वाले गाते नहीं। यह मूक नृत्य है, केवल मुद्राओं से अंगों के संचालन और उँगलियों के कम्पन से उसमें भावों का प्रदर्शन होता है। इसके अनेक साधक दक्षिण में हैं और अनेक नर्तकों ने इस शैली को उत्तर भारत में भी लोकप्रिय बनाने का सफल प्रयास किया है। इस



कथकली नृत्य

सम्बन्ध में रुक्मिणी अरंडेल का प्रयत्न अत्यंत सराहनीय रहा है।

कथकली भी दक्षिण की ही नृत्य-शैली है। अत्यंत भावपूर्ण और कठिन मुद्राओं की धनी शैली है यह। उँगलियों और अंगों के संचालन से ही इसमें क्रोध, प्रेम, राग, द्वेष, युद्ध, स्नेह आदि का प्रदर्शन किया जाता है। इसमें बड़ी साधना की आवश्यकता होती है और इसे सीखने में वर्षों लग जाते हैं।

कथकली विशेषतः और मूलतः केरल का नृत्य-प्रयोग है। इसमें कथाओं का प्रदर्शन होता है और यह नाटक के बहुत निकट है। इसमें ध्वनि नहीं होती, कथोपकथन शब्दों द्वारा नहीं होता, केवल मुद्राओं द्वारा होता है। प्राचीन काल में केरल में अनेक संस्कृत नाटक संक्षिप्त

करके खेले जाते थे। उनमें मुखौटे लगाकर अनेकानेक रूप धारण करने की आवश्यकता होती थी। जब उनका मूक नृत्य में विकास हुआ तब शब्द तो लुप्त हो गया पर मूक चेष्टाएँ और मुद्राएँ बनी रहीं और वातावरण बनाए रखने के लिए मुखौटे भी कायम रखे गए।

इस शैली के नृत्य में प्राचीन पौराणिक कथाएँ, कंस, बाण आदि असुरों के वध की कथाएँ मुद्राओं और नृत्य द्वारा प्रदर्शित की जाती हैं। इसी से इस शैली का नाम भी कथकली पड़ गया। इसका भी इधर पुनरुद्धार और प्रचार हुआ है, देश में भी, विदेशों में भी। शीरीं-बहनों ने अपने गुरु कृष्ण कुट्टी के साथ इसके सफल प्रचार में बड़ा प्रयास किया। इस शैली के प्रदर्शनों में भी बड़े दर्शक आते हैं।

8. फ़िल्मी संगीत

फ़िल्म आज सभी देशों के साथ भारत में भी इतना लोकप्रिय हो गई है कि फ़िल्मी संगीत का उल्लेख किए बिना संगीत पर लिखित कोई पुस्तक अधूरी ही रहेगी। भारत का फ़िल्मी संगीत; विशेषकर इसके गीत अथवा गाने अपनी सरसता और अपनी धुन-तान के कारण विदेशों में भी लोकप्रिय हुए हैं। यहाँ तक कि रूस में भी, राजकपूर द्वारा अभिनीत 'आवारा' फिल्म का गाना, 'आवारा हूँ आवारा हूँ या गर्दिश में हूँ आसमान का तारा हूँ-आवारा हूँ।' लोग अभी भी भारतीयों को देखकर गुनगुना पड़ते हैं। पाकिस्तान में तो भारतीय फिल्मी गाने बहुत लोकप्रिय हैं और 'बैन' होने पर भी यहाँ के गानों के 'कैसेट' चोरी-छुपे वहाँ पहुँच ही जाते हैं।

हमने हर प्रकार के संगीत को तीन भागों में बाँटा है-

(i) गीत

(ii) नृत्य

(iii) वाद्य

यहाँ भी हम वही करेंगे।

फ़िल्मी गीत

फ़िल्में आरम्भ में मूक हुआ करती थीं, और तब हाव-भाव द्वारा ही कहानी कही जाती थी। जब उनमें स्वर भरा जाने लगा तो फिल्मी गीतों का भी जन्म हुआ। आरम्भ में भजन आदि चले, फिर फ़िल्मों के लिए विभिन्न अवसरों और घटनाओं को लेकर गीत बनाए जाने लगे। आरम्भिक गीत बड़े साफ-सुथरे और लयबद्ध तथा मधुर होते थे। इनमें

उच्च कोटि का संगीत अथवा लय-ताल होते थे जिससे ये अत्यन्त कर्ण-मधुर हो जाते थे। पुरानी फिल्मों, 'झनक-झनक पायल बाजे', 'बरसात', 'जागृति', 'मुग़ले आज़म', 'चौदहवीं का चाँद' आदि के गीत बहुत लोकप्रिय हुए।' 'जागृति' का यह गीत अब भी लोग गुनगुना पड़ते हैं।–

आओ बच्चो तुम्हें दिखाएँ
झाँकी हिन्दुस्तान की।
इस मिट्टी से तिलक करो
यह धरती है बलिदान की।।

'कभी-कभी' का यह गीत बच्चों से बूढ़े तक वर्षों तक गुनगुनाते रहे–

कभी-कभी मेरे दिल में खयाल आता है
कि जैसे तुझको बनाया गया है मेरे लिए
तू अब से पहले सितारों में
बस रही थी कहीं,
तुझे ज़मीं पे उतारा गया है मेरे लिए।

आरम्भिक फिल्मों में शास्त्रीय संगीत और सुगम संगीत दोनों को प्रधानता मिली। धीरे-धीरे शास्त्रीय गीतों का लोप होने लगा और अर्द्ध-शास्त्रीय संगीत की तर्ज पर गीत लिखे जाने लगे।

इधर के गीतों का कोई स्वरूप नहीं। गद्य के टुकड़ों को भी संगीत की बैसाखी के सहारे परवान चढ़ा दिया जाता है। अब तो 'रॉक', 'जॉज़' और 'पॉप' के नाम पर बिना सिर-पैर और बिना मतलब के भी गीत आने लगे हैं।

फ़िल्मी गायक

पहले की हिन्दी फिल्मों के गायक शास्त्रीय संगीत पर अच्छी पकड़ रखते थे। इससे किसी भी तरह के गाने को बड़ी सहजता एवं मधुरता के साथ गा लेते थे। उनकी मधुर आवाज़ सुनकर श्रोता

मंत्र-मुग्ध हो जाता था। ऐसे गायकों में नूरजहाँ, सुरैया, मुहम्मद रफ़ी, किशोर कुमार, मुकेश, लता मंगेशकर, मन्ना डे, आशा भोंसले आदि प्रमुख हैं। आज भी इनके गाये गीत कानों में शहद घोलते लगते हैं। लता मंगेशकर द्वारा गाये गीतों की अपार लोकप्रियता को देखते हुए उन्हें भारत रत्न से सम्मानित किया गया। पर इधर की फिल्मों में जिस तरह के सस्ते गाने लिखे जा रहे हैं, उसी तरह उन्हें गाने वाले भी सामने आए हैं। हालाँकि आज के गायकों की शास्त्रीय संगीत पर अच्छी पकड़ लगती है, पर उन्हें गायन के लिए अच्छे गाने मिलते ही कहाँ हैं?

आज के फ़िल्मी गायकों में अलका याज्ञनिक, कविता कृष्णमूर्ति, उदित नारायण, सोनू निगम, शान, श्रेया घोषाल, तलत अज़ीज़ आदि के नाम लिए जा सकते हैं।

फ़िल्मी वाद्य

भारतीय फ़िल्मों के गीतों की लोकप्रियता के पीछे वस्तुतः इनके संगीत का हाथ रहा है। संगीत वाद्यों से निस्सृत होता है अतः फ़िल्मी वाद्यों का भी महत्त्व है। ध्यान देने की बात यह है कि किसी गीत को धुन या लय-ताल में बाँधना संगीतकार का पहला और महत्त्वपूर्ण दायित्व होता है।

भारतीय फ़िल्मी गीत इसीलिए लोकप्रिय हुए कि उन्हें अच्छे संगीतकारों ने तैयार किया। इनमें नौशाद, शंकर-जयकिशन और लक्ष्मीकान्त-प्यारेलाल आदि के नाम प्रमुख रहे हैं। इधर भारतीय फिल्मी संगीत का स्वरूप एकदम परिवर्तित हो गया है। मुहम्मद रफ़ी और किशोर कुमार आदि ने जैसे गाने गाए, वैसे गाने अब नहीं गाए जाते। इन पर नए संगीतकारों का प्रभाव होता है। इनके सुर-ताल बदल गए हैं। नए संगीतकारों में ए.आर. रहमान इलैया राजा, अन्नू मलिक आदेश श्रीवास्तव आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

भारतीय फिल्मी गीतों को पार्श्व-गायक और गायिकाओं ने कुछ

कम लोकप्रिय नहीं बनाया। इनके सुकण्ठ ने ही मधुर संगीत का कार्य किया और गाने लोकप्रियता के शिखर पर चढ़ते गए। गायकों का उल्लेख ऊपर आया है। पार्श्व-गायिकाओं में लता मंगेशकर और आशा भोंसले के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। लता के मधुर कण्ठ का तो कोई जवाब नहीं। आशा भोंसले प्रायः हर प्रकार के गाने को स्वर देकर उसे लोकप्रिय बना देती हैं। कुछ नई गायिकाएँ भी आई हैं।

अब वाद्यों के अनेक प्रकार हो गए हैं। एक साथ विभिन्न वाद्य एक लय-सुर में बज उठते हैं।

फ़िल्मी नृत्य

भारतीय फ़िल्मों में नृत्य आरंभिक चरण में नायिकाओं तक ही सीमित था। यह मुख्यतः शास्त्रीय नृत्य था या गानेवालियों का मुजरा आदि। नायक प्रायः अपने चेहरों के भावों से ही अपनी प्रसन्नता की अभिव्यक्ति करते थे, अधिक हुआ तो पेड़ों के इर्द-गिर्द घूम लिए।

कालक्रम से पुरुषों का नाचना भी अनिवार्य हो गया। जो नृत्य नहीं कर सकता था वह नायक बनने के योग्य नहीं माना जाता था। पर पुरुष क्या नाचे? उसका नृत्य बड़ा बेढंगा रहा और उछलकूद तक ही सीमित हो गया। यही स्थिति आज भी है। गज़ब यह हुआ कि पुरुषों की यह प्रवृत्ति नारियों में भी आ गई। शास्त्रीय नृत्य के लिए अपेक्षित प्रशिक्षण और अभ्यास कौन करे! नायिकाओं का नृत्य कमर और कूल्हे मटकाने तक रह गया बल्कि अधिक से अधिक कामुकतापूर्ण ढंग से अंगों के संचालन तक! कम-से-कम वस्त्रों के माध्यम से, नृत्य के दौरान अधिकाधिक अंग-प्रदर्शन की प्रथा चल पड़ी है।

शास्त्रीय नृत्य जैसे सिरे से गायब हो गया पर अपवादस्वरूप इस दौरान भी कुछ नायिकाओं ने शास्त्रीय नृत्य में पारंगतता प्राप्त करके फिल्मों में प्रवेश किया।

कुछ समय पूर्व तक वैजयन्ती माला और बाद में हेमा मालिनी ने

अपने सधे हुए शास्त्रीय नृत्यों से फिल्मों की गरिमा लौटाई पर अब दोनों फिल्मों से संन्यास ले चुकी हैं।

आज स्थिति पुनः जहाँ की तहाँ है। नायक और नायिका दोनों के नृत्य उछल-कूद और थोड़े अंग-प्रदर्शन तक सीमित रह गए हैं। यह पश्चिम का प्रभाव है। फ़िल्में सिनेमा घरों और टी. वी. के माध्यम से जन-जन तक पहुँचती हैं। उनके माध्यम से उत्कृष्ट भारतीय नृत्य–परम्परा को जीवित रखने में सर्वाधिक सहायता मिल सकती है।

नई नायिकाओं में माधुरी दीक्षित ने कुछ अच्छे नृत्यों का प्रदर्शन किया है। आजकल मिस वर्ल्ड और मिस इण्डिया फिल्मों में अधिक छाने लगी हैं; वे नृत्य करें या नहीं, इससे कोई अन्तर नहीं आता। उनका 'ग्लैमर' ही टिकट-खिड़की पर भीड़ जुटाने के लिए काफ़ी होता है।

9. संगीत के घराने

भारत में संगीत का विकास स्कूलों तथा संस्थाओं के माध्यम से नहीं हुआ। यह ज़्यादातर संगीतकारों के अपने घरों और परिवारों द्वारा ही हुआ। जाने-माने संगीतकारों को गुरु अथवा उस्ताद कहा जाता था और यह स्वाभाविक था कि वे पहले अपने बच्चों को या परिवार से जुड़े लोगों को ही शिक्षा दें। प्रत्येक गुरु या उस्ताद का संगीत भी दूसरे के संगीत से कुछ अलग हो जाना भी स्वाभाविक बात थी। यह उनकी अपनी विशेषता ही बन जाती थी। इस प्रकार उनके अपने परिवार या नगर के नाम पर प्रत्येक परम्परा विख्यात हो जाती थी। इसे 'घराना' नाम दिया जाने लगा। ज़्यादातर ये नाम नगर से जुड़े होते थे और आज भी यही नाम प्रचलित हैं, यद्यपि अब अनेक स्थानों पर संगीत का विधिवत् शिक्षण देने वाली संस्थाएँ खुल गई हैं। उदाहरण के लिए, ग्वालियर घराना, आगरा घराना, बनारस घराना या भिंडी बाजार (मुंबई का एक मोहल्ला) घराना। व्यक्तियों के नाम पर कुदउ सिंह घराना, नाना पानसे घराना आदि नाम मशहूर हैं।

घराने संगीत के लिए होने के साथ-साथ वाद्यों के भी होते हैं। जैसे तबला या पखावज के घराने। ये नाम इसलिए बन जाते थे कि कुछ उस्ताद वाद्यों को बजाने के अपने विशिष्ट तरीके विकसित कर लेते थे।

यहाँ हम कुछ घरानों और उनकी विशेषताओं की चर्चा करेंगे।

ध्रुपद के घराने

सबसे पहले ध्रुपद गायन के घरानों को लें। एक ज़माने में गायन का यह प्रकार बहुत प्रचलित था परन्तु बाद में ख़याल गायन ने इसका

स्थान ले लिया। ध्रुपद में पहले घरानों के स्थान पर 'बानी' (वाणी) शब्द का प्रयोग किया जाता था—यानी एक विशेष ध्वनि अथवा वाणी में ध्रुपद का गायन। जेसो गोबरहार, नौहार, खंडहार और डागर की बानियाँ।

आजकल प्रसिद्ध ध्रुपद के घराने इस प्रकार हैं : डागर बंधुओं का घराना; उस्ताद फैयाज़ खाँ, विलायत हुसैन खाँ, खादिम हुसैन खाँ आदि आगरा के गायकों का घराना; दरभंगा के पंडित रामचतुर मलिक और पंडित सियाराम तिवारी का घराना; ब्रजप्रदेश के पंडित लक्ष्मनप्रसाद चौबे और बालाजी चतुर्वेदी का घराना; बेतिया के पंडित शिवकुमार मिश्र का घराना; कालपी के पंडित भरत व्यास का घराना, मुंबई के भट्ट, गिंडे, कायकिणी और पंडित रतन जनकर का घराना, इत्यादि। पंडित रतनजनकर आगरा और लखनऊ में भी रहे और यहाँ बहुत ख्याति पाई।

ख़याल के घराने

ख़याल की गायन शैली में *ग्वालियर घराना* सबसे प्रसिद्ध है। यह सबसे पुराना घराना भी है। इसका फैलाव भी बहुत ज़्यादा है और अनेक प्रकार के ख़याल गाये जाते हैं जैसे, बड़ा ख़याल, छोटा ख़याल, ठुमरी, टप्पा, तराना, अष्टपदी, खयालनुमा, सुरवार्ता सदरा और रामख़याल। गायन के इन सब प्रकारों में रचनाएँ या गीत भी अनेक हैं। इन्हें ज़्यादा प्रचलित रागों में ही बाँधा गया है जिससे श्रोताओं के लिए उनका आस्वादन कठिन न हो। कुछ गीत कठिन रागों में भी बाँधे गए हैं जो विशेष अवसरों पर गाये जाते हैं। यह गायन-परम्परा शक्ति और उत्साह व्यक्त करती है और इस कारण इसके गानेवाले ज्यादातर पुरुष होते हैं। कुछ स्त्रियाँ भी इन्हें गाती हैं।

कृष्णराव शंकर पंडित ने इस परम्परा में विशेष यश प्राप्त किया है।

ग्वालियर के बाद *आगरा घराने* का नाम आता है। इसके प्रसिद्ध गायक उस्ताद फ़ैयाज़ हुसैन खाँ हुए जो अब नहीं हैं। इनको सुनने के लिए लोगों की भीड़ उमड़ती थी और पंडित ओंकारनाथ ठाकुर के समय

में इनके दंगल मशहूर थे। इस परम्परा में भी बड़ा और छोटा ख़याल, ध्रुपद, धमार, सदरा, ठुमरी और तरानों के प्रकार में अनेक गीतों की रचना हुई है। इनमें स्वर इत्यादि की शुद्धता पर विशेष ध्यान दिया जाता है और कठिन रागों में भी गाया जाता है। इस घराने पर ध्रुपद का बहुत प्रभाव है, इसके बोल और तान भी ऊँची और लंबी होती है इसलिए पुरुष गायक ही इन्हें गाते हैं।

जयपुर घराना कठिन रागों में ही ख़याल गाने के लिए मशहूर है। उस्ताद अल्लादिया खाँ इसके प्रसिद्ध गायक हुए। इसमें चूँकि कठिन रागों को ही महत्व दिया जाता है इसलिए ताल मध्यम, ज्यादातर त्रिताल ही रखा जाता है–जिससे श्रोता पर ज्यादा दबाव न पड़े और वह आसानी से समझ तथा आनंद ले सके। विशेष रागों में गाए जाने के कारण शब्दों का चुनाव भी सामान्य न रहकर विशेष हो जाता है। आलाप और तान भी दूसरों से अलग होते हैं जिनमें चमत्कारी ध्वनियों की सृष्टि होती है। इसे बौद्धिक प्रकार का ख़याल गायन कह सकते हैं। इसमें ठुमरी, तराना, सदरा, अष्टपदी और कम ख़याल आदि की गुंजायश नहीं रहती। परन्तु इस कारण इसमें विविधता टप नहीं होती जो नए-नए रागों के प्रयोग से पूरी होती रहती है। इसे स्त्रियाँ भी सरलता से गा सकती हैं।

किराना घराना एक नया विकसित घराना है लेकिन यह अन्य घरानों से कम प्रभावी नहीं है। इसमें गायन की मधुरता पर अधिक बल दिया गया है जिसके कारण इसका प्रभाव बौद्धिक न होकर भावनात्मक ज्यादा होता है। बौद्धिक प्रकारों में 'आ'... ध्वनि को उठाया जाता है और इसमें 'ओ'... ध्वनि को घुमा-फिराकर विविध बोलों और आलापों के जरिये मध्यम स्वरों में गाया जाता है। इसमें साँस कम खर्च होती है और इसलिए स्त्रियाँ भी इसे गा सकती हैं। इसलिए इसमें भजन भी बहुत गाए जाते हैं। कम और सादा रागों का ज़्यादा प्रयोग किया जाता है, जैसे कल्याण, पूरिया, दरबारी, ललाट, मियाँ की तोड़ी, अभोगी,

कानड़ा इत्यादि।

उस्ताद अब्दुल करीम खाँ इस घराने के प्रसिद्ध गायक हुए हैं।

ख़याल के कुछ और घराने भी मशहूर हैं जैसे सहसवान, इंदौर, मेवाती और भिंडी बाजार घराने। कुछ नए घराने भी बन रहे हैं। उस्ताद अमन अली खाँ भिंडी बाजार घराने के और उस्ताद अमीर खाँ इन्दौर घराने के प्रसिद्ध गायक हुए हैं।

ठुमरी के घराने

ठुमरी हिन्दुस्तानी संगीत का एक विशेष और बहुत लोकप्रिय प्रकार है। इसमें गायन, हलका नृत्य, अभिनय, प्यार-मोहब्बत इत्यादि बहुत कुछ मिला-जुला है। विशेषकर उत्तर प्रदेश में इसका विकास हुआ। लखनऊ के नवाब वाजिद अली शाह ने इसके विकास में बहुत योगदान किया। उन्हें इसका जनक भी माना जाता है यद्यपि यह सही नहीं है क्योंकि संगीत की पुरानी भारतीय किताबों में इसका उल्लेख मिलता है।

इस समय ठुमरी के घरानों में *बनारस घराना* सबसे मशहूर है। सिद्धेश्वरी देवी ने इसमें बहुत नाम कमाया। इसे 'बोल बनाव ठुमरी' भी कहते हैं जिसका अर्थ यह हुआ कि गीत के शब्दों को इस तरह गाकर पेश करना कि उनके मायने स्पष्ट हो सकें। इसमें तबले के विशेष प्रयोग प्रस्तुत किए जाते हैं। जिन तालों का ज्यादातर इस्तेमाल किया जाता है ये हैं—दीपचन्दी, दादरा और अद्धा। अन्य घराने भी इन्हीं तालों का प्रयोग करते हैं।

बनारस घराने का ठुमरी गायन संयत और सन्तुलित होता है। इनमें गंभीरता होती है और लखनऊ घराने की ठुमरी की तरह अदाओं पर भी बल नहीं दिया जाता। अभिनय का उपयोग भी हलका किया जाता है।

लखनऊ घराना अपनी कोमलता और सजावट के लिए मशहूर

है। बेगम अख़्तर इस घराने की प्रसिद्ध गायिका रही हैं। नवाबी खानदानों में विकसित होने के कारण इसमें इश्क-मुहब्बत, तरह-तरह की अदाओं और अभिनय-संकेतों की प्रचुरता है। लेकिन इस कारण इसकी सुकुमारता पर आंच नहीं आती।

'बन्दिश की ठुमरी' नाम से प्रसिद्ध इसका एक प्रकार बहुत पसन्द किया जाता है। इससे द्रुत तीन ताल तथा नृत्य और तबले की ध्वनि-रचनाओं के साथ पेश किया जाता है।

उस्ताद बड़े गुलाम अली खाँ *पटियाला घराना* के मशहूर गायक हुए जिन्होंने संगीत जगत में अपनी धूम मचा दी। यह घराना नया ही कहा जाएगा परन्तु पंजाब के टप्पा के प्रयोग ने इसमें जान डाल दी और यह देखते ही देखते लोकप्रिय हो गया। लखनऊ की नृत्य-आधारित ठुमरी और बनारस की ख़याल-आधारित ठुमरी के सामने इसने एक नए प्रकार की ठुमरी की नींव डाली। इस पर लोक संगीत का भी गहरा प्रभाव पड़ा। हीर-रांझा के गीतों और पहाड़ी धुनों के कारण यह शैली बहुत समृद्ध हुई। इसकी एक कमी यह है कि इसे देर तक उठाया और साधा नहीं जा सकता जो अन्य शैलियों में सहज किया जा सकता है।

उत्तर भारत के अलावा महाराष्ट्र और बंगाल में भी ठुमरी के प्रकारों का विकास हुआ। महाराष्ट्र में लावणी का एक प्रकार ठुमरी के उत्तर स्वरूप ही विकसित हुआ। उस्ताद अब्दुल करीम खाँ तथा उनके शिष्यों ने भक्तिपरक ठुमरियाँ गाईं और भास्कर बुआ बखले के शिष्य मास्टर कृष्णराव ने अत्यन्त मधुर ठुमरियों का विकास किया।

वाद्यों के घराने

विश्वविख्यात सितारवादक पंडित रविशंकर के साथ उनका मैहर घराना सामने आया जिसके उस्ताद अलाउद्दीन खाँ बहुत मशहूर हैं। इसी प्रकार अन्य वाद्यों और उनको बजाने वालों के साथ उनके घरानों के नाम जुड़े हैं जिन्हें उनकी कुशलता का श्रेय जाता है।

तबला के घराने

तबला भारतीय गायन मंडली का एक प्रमुख अंग और आधार है। हारमोनियम के साथ इसका होना ज़रूरी है। इसलिए तबला-वादन की कला पर विशेष ध्यान दिया गया और उसके भी घराने विकसित हुए। *दिल्ली घराना* कोमल ताल के लिए प्रसिद्ध हुआ और उसे प्राप्त करने के लिए केवल दो उँगलियों से तबला बजाने की प्रथा डाली गई। इस कारण इसे 'दो उँगलियों का बाजा' ही कहने लगे। दो उंगलियों से दाहिने तबले के किनारे पर ही चोट की जाती है। इसके साथ बायीं ओर के तबले पर हथेली उठाये बिना बीच की उँगली से ताल दी जाती है। इस प्रकार बजाने पर एक हलकी मधुर ध्वनि निकलती है जो कानों को बहुत अच्छी लगती है। इस प्रकार गायन से स्वतंत्र रचनाएँ भी बनाई गई हैं जो एक कठिन काम है।

दिल्ली घराने से *अजरौंदा घराना* का विकास हुआ जिसमें चार की जगह तीन दफ़ा ताल देने की पद्धति से नई ध्वनि पैदा की गई। इसी तरह बाएँ तबले पर अंगूठे का भी इस्तेमाल करके लगातार बिना रुके बजनेवाली मंद ध्वनि निकाली गई। इससे एक नए प्रकार का प्रभाव उत्पन्न हुआ। सबसे छोटी उँगली के प्रयोग से और भी कोमल ध्वनियाँ निकाली गईं। इन सब कारणों से एक व्यक्ति के गायन में साथ देने के लिए तो यह उपयुक्त हुआ परन्तु ज्यादा व्यक्तियों के गायन तथा नृत्य के लिए बिलकुल अनुपयुक्त रहा। कला की दृष्टि से इसे विशेष सराहा जाता है।

लखनऊ घराना अलग से विकसित हो गया क्योंकि वहाँ के संगीत में नृत्य इत्यादि का भी समावेश होता है। पखावज की तरह दोनों ओर खुले हाथ से आवाज़ उठाते हैं जो तीव्र होने के कारण पूरे गायन-नृत्य को घेर लेती हैं। *फर्रुखाबाद घराना* इन सबसे अलग है और 'गत' पर ज़्यादा जोर देता है जिसके अनेक प्रकार बजाए जाते हैं। ये एक अलग ही तरह का समाँ बाँध देते हैं। उस्ताद अहमद जान

थिरकवा (थिरकन की तरह बजाने वाले) इस घराने के अत्यन्त प्रसिद्ध वादक रहे हैं। बहुत से संगीतज्ञ इसे ही सर्वश्रेष्ठ घराना मानते हैं। *बनारस घराना* के वादक दाएँ हाथ की अँगूठी वाली उँगली का प्रयोग कर एक बिल्कुल ही भिन्न प्रकार की ध्वनि उत्पन्न करते हैं। इसमें गतें भी ज़नानी और मरदानी अलग-अलग विकसित की गई हैं। गायन के साथ नृत्य में भी इसका प्रयोग किया जाता है। *पंजाब घराना* में ज़ोरदार आवाज और तीव्रता को महत्व दिया गया है। उस्ताद अल्ला रखा इसके मशहूर वादक रहे हैं।

पखावज के घराने

पखावज ऐसा वाद्य है जिसमें ढोल की तरह तबले के दोनों यंत्र एक में मिला दिए गए हैं। इसकी ध्वनि तीव्र और अत्यन्त शक्तिशाली होती है। दक्षिण भारत में इसका बहुत प्रचार है, उत्तर भारत में कम है। फिर भी *कुदउ सिंह घराना* और *नाना पानसे घराना* मशहूर हैं। कुदउ सिंह दो सौ साल पहले हुए थे और दतिया के राजा से संबद्ध थे। उन्हें वाजिद अली शाह ने लखनऊ बुलाया और कुंवर दास नाम दिया। उन्होंने पशुओं और पक्षियों की ध्वनियों के आधार पर हजारों स्वर लहरियाँ तैयार कीं। नाना पानसे मराठा थे और इन्दौर दरबार में रहे। वे नृत्य भी बहुत अच्छा जानते थे। *नाथ द्वारा घराना* भी पखावज का प्रसिद्ध घराना है जिसका वल्लभ सम्प्रदाय के मंदिरों में प्रयोग किया जाता है।

सितार के घराने

सितार बहुत पुराना वाद्य नहीं है परन्तु यह बहुत लोकप्रिय है। सन् 1740 के आसपास पहली बार दिल्ली में यह सामने आया। तानेसन से इसका आंरभ माना जाता है जिनकी परम्परा में तीन घराने निर्मित हुए। दिल्ली की बादशाही के पतन के बाद ये जयपुर, रामपुर इत्यादि चले

गए। रामपुर की नवाबी में *रामपुर घराना* विकसित हुआ जिसमें उस्ताद अलाउद्दीन खाँ अत्यन्त प्रसिद्ध हुए। पंडित रविशंकर इन्हीं के शिष्य हैं। उस्ताद अलाउद्दीन खाँ बाद में मैहर चले गए और उनका *मैहर घराना* नाम से प्रसिद्ध हुआ। *इमदाद खाँ घराना* भी बहुत मशहूर हुआ जिसमें उस्ताद विलायत खाँ सामने आए।

सरोद के घराने

सितार के बाद सरोद का विकास हुआ और इसमें भी कलाकार सामने आए। इसके घराने अब बन रहे हैं। ग्वालियर के उस्ताद हाफिज़ अली और मैहर के उस्ताद अलाउद्दीन खाँ ने अपनी शैलियाँ निर्मित कीं जिनका उनके बेटों ने विकास किया। उस्ताद हाफिज़ अली के बेटे उस्ताद अमजद अली और उस्ताद अलाउद्दीन खाँ के बेटे उस्ताद अली अकबर खाँ ने बहुत नाम कमाया है। अब उस्ताद अमजद अली के बेटे भी सामने आ गये हैं।

अन्य प्रमुख संगीतकार गायक एवं वादक

संगीतकार—घरानों से जुड़े संगीतकारों एवं गायकों के अलावा कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण संगीतकार भी हुए, जिनकी चर्चा के बिना संगीत की यात्रा पूरी नहीं मानी जा सकती। इनमें सबसे प्रमुख नाम पंडित विष्णु नारायण भातखंडे और पंडित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर के हैं। रामपुर घराने से प्रभावित पंडित भातखंडे ने हिन्दुस्तानी संगीत को एक नयी पहचान दी। उनकी रचनाएँ और उनके द्वारा स्थापित किए गए संगीत विद्यालय आज भी उनकी याद को ताज़ा बनाए हुए हैं।

पंडित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने भी हिन्दुस्तानी संगीत के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान किया। उन्होंने संगीत की शिक्षा के प्रसार के लिए गंधर्व विद्यालय की स्थापना की।

गायक—इधर के शास्त्रीय गायकों में कुमार गंधर्व, पंडित जसराज,

किशोरीबाई अमोनकर, शुभा मुद्गल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

वादक—बाँसुरी वादन में पन्नालाल घोष तथा पंडित हरिप्रसाद चौरसिया ने काफ़ी ख्याति प्राप्त की है। संतूर वादन के क्षेत्र में पंडित शिवकुमार शर्मा ने प्रसिद्धि पाई है। गोपाल दास ने पखावज बजाने में नाम किया है।

10. उपसंहार

विशुद्ध भारतीय संगीत–गायन, वादन और नर्तन–भारत के निवासियों की सम्मिलित साधना का परिणाम है। हमने पहले के पृष्ठों में देखा है कि किस प्रकार हिन्दू-मुसलमान दोनों ने गाने, बजाने, नाचने तीनों विधियों के संगीत में समान रूप से हाथ बँटाया है। वास्तव में कला और विज्ञान में कोई मज़हबी कट्टरता या पूर्वाग्रह काम नहीं कर सकता, वह उसकी हानि निःसन्देह कर सकता है। इसमें तप और साधना की आवश्यकता होती है और दोनों ने इसकी साधना और प्रसार में तप किए हैं।

कला के क्षेत्र में छुआछूत या हिन्दू-मुसलमान का भेद नहीं चल पाता। इसकी अपनी परम्पराएँ हैं जिन्हें इसके आचार्यों और शिष्यों को निभाना पड़ता है। इन परम्पराओं को निभाकर ही हिन्दू-मुसलमान दोनों इसे सृजित और प्रसारित कर सके हैं। यह देखा गया है कि मुसलमान आचार्य और शिष्यों ने शुद्ध हिन्दू निष्ठा का, संगीत सिखाने और सीखने में निर्वाह किया है। देखा गया है कि हिन्दू शिष्य ने मुसलमान गुरु की जीभ से जीभ तक छुआकर एक पुरानी प्रथा को निभाया है। महत्त्व जीभ से जीभ मिलाने में नहीं है, यह केवल प्रतीक है जो सद्‌भाव और पूर्वाग्रह के अभाव को कला के क्षेत्र में प्रतिष्ठित करता है।

फ़िल्मी संगीत और नृत्य ने भारतीय गायन और नृत्य का कुछ भला किया है तो कुछ बुरा भी। पुरानी फ़िल्मों में प्राचीन नृत्य स्वरूपों पर ज़ोर दिया गया है पर आधुनिक फ़िल्मों के नृत्य भारतीय नृत्य-शैली पर कुठाराघात ही करते हैं। वे व्यर्थ की उछल-कूद और कमर-कूल्हे लचकाने तक सीमित रह गए हैं। फिर भी पहले की कुछ नायिकाओं ने प्राचीन भारतीय नृत्यों का विशेष प्रशिक्षण लिया और कभी-कभी इनके

नृत्य के लिए ही इन्हें कई फिल्मों में अनुबन्धित किया जाता रहा है। इधर की फिल्मों में नृत्य के नाम पर भोंडा प्रदर्शन-मात्र रह गया है। नायिकाएँ अब नृत्य का विधिवत् प्रशिक्षण नहीं लेतीं।

जो हो, भारतीय संगीत की परम्परा समृद्ध रही है और आज भी है। फ़िल्म उसमें योगदान दें या नहीं, इससे कोई अन्तर नहीं आता।

●●●

स्वदेश-परिचय माला

भारत एक महान् देश है, जिसके संबंध में परिचय देने वाली यह पुस्तकमाला भारत के सभी पक्षों का पूरा विवरण देती है। प्रत्येक पृष्ठ पर दो रंग में कलापूर्ण चित्र, सुगम भाषा और प्रामाणिक तथ्य। इस पुस्तकमाला के लेखक हैं, प्रसिद्ध साहित्यकार, इतिहास और कला के मर्मज्ञ डॉ. भगवतशरण उपाध्याय।

भारत की कहानी

भारत की संस्कृति की कहानी

भारत के नगरों की कहानी

भारत के भवनों की कहानी

भारत की नदियों की कहानी

भारत की चित्रकला की कहानी

भारत की मूर्तिकला की कहानी

भारत के साहित्यों की कहानी

भारतीय संगीत की कहानी

भारत के पड़ोसी देश

विदेशों में भारतीय संस्कृति



राजपाल

ISBN 81-7028-411-2

